मनोरंजन पुस्तकमाला—३८

हिंदी निबंधमाला

पहला भाग

संग्रहकर्त्ता

श्यामसुंदरदास, बी० ए०

प्रकाशक

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.

नवीन संस्करण]　　सं० २००२　　[मूल्य १)

निवेदन

हिंदी में उत्तम कोटि के निबंधों का कोई ऐसा संग्रह अब तक प्रकाशित नहीं हुआ जो निबंध-लेखन-कला के विचार से साहित्यिक कोटि का हो और जो ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों के हाथों में इस उद्देश्य से दिया जा सके कि वे उसे आदर्श मानकर अपनी लेखन-शैली तथा विषय-प्रतिपादन-रीति को सुधार सकें। इस अभाव की पूर्ति के उद्देश्य से यह संग्रह प्रस्तुत किया जा रहा है। पहले भाग में अपेक्षाकृत सरल लेखों का संग्रह है तथा दूसरे भाग में उससे कठिन लेखों का संग्रह। भाषा की कठिनता या सरलता तो अधिकांश में शब्दों की तत्सम-मता या तद्भवता पर निर्भर रहती है, परंतु विषय को कठिन या सरल बनाने में विचारों की गूढ़ता, विषयप्रतिपादन की गंभीरता, मुहाविरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और पदों की जटिलता तथा इन गुणों की न्यूनता ही विशेष रूप से उत्तरदायी होती है। निबंधमाला के दोनों भागों को प्रस्तुत करने में हमने भाषा की अपेक्षा विषय की ही सरलता और काठिन्य का भेद अपने सामने रखा है, यद्यपि भिन्न भिन्न प्रकार के लेख-पुष्पों को निबंधमाला के दोनों भागों में ग्रंथित करने की चेष्टा भी की गई है।

खेद है कि हिंदी में अभी भिन्न भिन्न निबंध-शैलियों की श्रेणी-शृंखला नहीं बन पाई है जैसी कि अँगरेजी आदि के उन्नत साहित्यों मे बन चुकी है। अँगरेजी में तो निबंध-शैलियों का ऐतिहासिक अनुक्रम भी मिलता है, किंतु हिंदी मे अभी भाषा की सरलता और क्लिष्टता के आधार पर ही साहित्य का अधिकांश विवेचन हो रहा है। इस चिंताजनक दशा का कारण अच्छे निबंधलेखकों का अभाव ही नही है, अच्छे साहित्य-समीक्षकों का अभाव भी है। निबंधों के सूक्ष्म सूक्ष्म भेदों पर हिंदी-समाज की दृष्टि का पहुँचना तब तक संभव देख नही पड़ता जब तक हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ भाषा के झगड़ो को छोड़ कर वास्तविक विचार-पद्धति को ग्रहण नहीं करतीं। इस संग्रह में भावप्रधान, कल्पनाप्रधान, विचारप्रधान, वर्णनप्रधान आदि विशेषताओं को दृष्टि में रखकर निबंधों का जो चयन किया गया है उसे निबंध-साहित्य की अट्टालिका पर पहुँचने की केवल पहली सीढ़ी समझना चाहिए।

निबंध या प्रबंध-लेखन साहित्य का एक प्रमुख अंग माना जाता है। आख्यायिकाओं और उपन्यासों के इस युग में भी यह स्वीकार किया जाता है कि विचारों को व्यक्त करने की सबसे स्पष्ट शैली निबंध की ही है। व्यक्तित्व की झलक दिखाने के लिये पश्चिम के साहित्यकार निबंध लिखने की कला का ही विशेषरूप से अभ्यास करते हैं। कथा-कहानियों की वस्तुप्रधान व्यंजनाशैली की अपेक्षा निबंधलेखन की व्यक्तिप्रधान अभिधा

शैली (Subjective art) अब भी अपना अलग महत्त्व रखती है। यह कोई नही कह सकता कि निबंध-रचना का अंग साहित्य के अन्य किसी अंग की अपेक्षा किसी भी रूप मे हीन है, तथापि हिंदी में अभी इस दिशा में बहुत थोड़ी प्रतिभा का प्रदर्शन किया गया है। मासिक पत्रिकाओं के पृष्ठ प्रतिमास अनेकानेक निबधो से रँगे रहते हैं पर उच्च कोटि के निबंध अब तक अल्प संख्या में ही प्रकाशित हुए हैं। साहित्यिक समीक्षा से संबंध रखनेवाले निबंधों की शैली कुछ दिनों से अच्छी मात्रा में उन्नति कर रही है, परंतु दूसरे प्रकार के निबंध उतनी ही मात्रा में अवनत भी हो रहे हैं। निबंध-लेखन की कला मे शक्ति-शाली उत्थान की आवश्यता है।

—श्यामसुंदरदास

लेख-सूची

लेख

हिंदी निबंधमाला

पहला भाग

आपत्तियों का पर्वत

[बाबू केशवप्रसाद सिंह]

जगत्प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी महात्मा सौक्रेटीज का मत था कि यदि संसार के मनुष्य मात्र की आपत्तियाँ एक ठौर एकत्र की जायँ और फिर सबको बराबर बराबर हिस्सा बाँट दिया जाय तो इस प्रबंध से भी उन मनुष्यों को संतोष नहीं हो सकता जो पहले अपने को अत्यंत अभागा वा विपद्ग्रस्त समझते थे, क्योंकि वे शीघ्र ही यह विचारने लगेंगे कि हमारी पूर्व दशा ही अच्छी थी। इसका कारण यह है कि जो दशा अच्छी वा बुरी विधना की ओर से हमें मिली है वह या तो (१) हमारी सहन-शक्ति के योग्य होती है, या (२) उसमें रहने से हम उसको सहन करने में अभ्यस्त हो जाते हैं, और इस कारण दोनों अवस्थाओं में से कोई भी हमें नहीं खलती। महाकवि होरेस भी

इस विषय में सोक्रेटीज से सहमत थे। इन्होंने यहाँ तक लिखा कि जिन कठिनाइयों वा यातनाओ में हम पिसते रहते हैं वे उन आपत्तियो की अपेक्षा बहुत ही न्यून है जो हमको अपनी दशा दूसरे से परिवर्तन करने में मिल सकती है।

मैं अपनी आरामकुर्सी पर बैठा उक्त दो कथनो पर विचार कर रहा था और अपनी मानसिक तरंगों में निमग्न था, कि मुझे झपकी सी आ गई और मैं तुरंत खर्राटे लेने लग गया। सोते सोते देखता क्या हूँ कि मैं एक रमणीक मैदान में जा पहुँचा हूँ जिसके चारो ओर ऊँचे ऊँचे पर्वत श्रेणीबद्ध खड़े है। इन पर्वतो ने हरी वनस्पतियो से अपने प्रत्येक अंग को ऐसा ढक रखा है कि क्या मजाल जो कही भी खुला दिखाई दे जाय। इनके ढाल पर छोटे छोटे वृक्षों के वीच में कही कही कोई बड़ा वृक्ष देखने में वहुत भला लगता था। यद्यपि प्रकृति-रूपी माली ने इस मैदान में एक भी बड़ा वृक्ष रहने नहीं दिया है, पर मैदान की हरी हरी घास वायु के हिलोरो में लहलहाती हुई कैसी प्यारी लग रही है! मैं इन्हीं मानसिक भावों को तरंगों में अपने आपको भूल, प्रकृति की अनुपम शोभा देख रहा था कि सहसा मुझे कुछ शब्द सुनाई पड़े। ध्यान देकर सुनने से जान पड़ा कि जैसे कहीं ढिंढोरा पिटता हो। पास के एक मनुष्य से पूछने पर मालूम हुआ कि भगवान् चतुरानन ने आज्ञा दी है कि मनुष्य मात्र आकर अपनी अपनी आपत्तियाँ इस स्थान में फेक जायँ। इस कार्य के

लिये यह मैदान नियत किया गया है। यह सुनकर मैं भी, इस कौतुकमय लीला को देखने के लिये, एक कोने में खड़ा हो गया। मुझे यह देखकर एक प्रकार की प्रसन्नता होती थी कि सारे मनुष्य क्रमशः आ आकर अपनी अपनी विपत्ति की गठरी मैदान मे फेंक रहे है। यह ढेर थोड़ी ही देर में इतना बड़ा हो गया कि आकाश को छूता दिखाई पड़ने लगा।

इस भीड़ भाड़ में एक दुबली पतली चंचला स्त्री बड़ा उत्साह दिखा रही थी। ढीला ढाला वस्त्र पहने, हाथ में म्यागनीफाइंग ग्लास लिए वह इधर उधर घूमती दिखाई दे रही थी। उसके वस्त्र मे भूत प्रेत के मनःकल्पित चित्र बेल-बूटों में कढ़े थे।

जब उसका वस्त्र वायु में इधर उधर उड़ता तब बहुत सी विचित्र ढंग की हास्यजनक एवं भयानक कल्पित मूर्तियाँ उसमें दिखाई पड़ती। उसकी चेष्टा से उन्माद तथा विह्वलता के कुछ चिह्न झलक रहे थे। लोग उसे भावना कहकर पुकारते थे। मैंने देखा कि वह चंचला प्रत्येक मनुष्य को अपने साथ ढेर के पास ले जाती, बड़ी उदारता से उनकी गठरी कंधे पर उठवा देती और अंत में उसके फेकने में भी पूरी सहायता देती है। मेरा हृदय यह दृश्य देखकर, कि सभी मनुष्य अपने विपद्भार के नीचे दब रहे है, भर आया। आपत्तियों का यह पर्वत देखकर मेरा चित्त और भी चलायमान हो रहा था।

इस स्त्री के अतिरिक्त और भी कई मनुष्य मुझे इस भीड़

में विचित्र दिखाई पड़े। एक को देखा कि वह चिथड़ों की गठरी अपने लबादे के भीतर बड़ी सावधानी से छिपाए हुए आया है। जब उसे फेकने लगा तब मैंने देखा कि वह अपने दारिद्र्य को फेंक रहा है। एक दूसरे को देखा कि बड़े पश्चात्ताप के साथ अपनी गठरी फेंककर चलता हुआ। मैंने उसके जाने पर उसकी गठरी खोलकर देखी तो मालूम हुआ कि दुष्ट अपनी अर्द्धांगिनी को फेंक गया है जिससे उसको सुख की अपेक्षा अति दुःख प्राप्त होता था। इसके अनंतर दिखाई दिया कि बहुतेरे प्रेमीजन अपनी अपनी गुप्त गठरी लिए आ रहे हैं।

पर सबसे आश्चर्यजनक बात यह थी कि यद्यपि ये लोग अपनी अपनी गठरियाँ फेंकने के हेतु लाए थे, और उनके दीर्घ निःश्वास से जान पड़ता था कि उनका हृदय इस बोझ के नीचे दबकर चूर चूर हुआ जाता है, पर उस ढेर के निकट पहुँचने पर उनसे फेंकते नहीं बनता।

ये लोग कुछ काल तक खड़े न जाने क्या सोचते रहे। उनकी चेष्टा से अब ऐसा जान पड़ने लगा कि उनके चित्त में मानो बड़ा संकल्प-विकल्प हो रहा है। फिर शीघ्र ही उनका मुख प्रफुल्ल दिखाई पड़ने लगा और वे अपनी अपनी गठरी ज्यों कि त्यों लिए वहाँ से चलते दिखाई दिये। मैं समझ गया। इन लोगों ने तर्क-वितर्क के पश्चात् यही निश्चय किया कि अपनी अपनी दला अपने पास ही रखना भलमनसाहत है। इसी से ये सब अपनी गठरियाँ अपने घर लिए जा रहे हैं। मैंने

देखा कि बहुत सी मनचली बूढ़ी स्त्रियाँ, जिनके मन की अभी सुख सभोग से तृप्ति नहीं हुई थी और जो चाहती थीं कि हम सदा नवयौवना ही बनी रहें, अपनी झुर्रियाँ फेकने के लिये आ रही है। बहुतेरी अल्पवयस्का छोकड़ियाँ अपना काला वर्ण फेक रही हैं और यह चाहती हैं कि मेरा रंग गोरा हो जाय। किसी ने अपनी बड़ी नाक, किसी ने नाटा कद और किसी ने अपनी बड़ी पेटी फेक दी है और यह प्रार्थी हुई हैं कि मेरी तोंद की परिधि कुछ कम हो जाय या यदि रहे भी तो कुछ ऊँचाई अधिक मिल जाय। किसी ने अपना कुबड़ापन प्रसन्नतापूर्वक ढेर में फेंक दिया है। इसके पश्चात् रोगियों का दल आया जिसने अपना अपना रोग अलग कर दिया। पर मुझे सबसे आश्चर्यजनक यह जान पड़ा कि मैंने इन सब मनुष्यो में किसी को भी अब तक ऐसा नहीं देखा जो अपने दोषो वा अपनी मूर्खता से अलग होने आया हो। मैंने पहले सोचा था कि मनुष्य मात्र इस समय अवसर पा अपना अपना मनोविकार फेक जायँगे।

अब मैंने देखा कि कोई कोई मनुष्य पत्र के बंडल बगल में दबाए बड़ी व्यग्रता से फेंकने को दौड़े आ रहे हैं। क्यों भाई! यह पत्रो का बंडल कैसा? मालूम हुआ कि यह दफा १२४ ए० है, जिसने इन महाशयो को चिंताकुल कर रखा है, एवं इनके व्यापार में बाधा डाल रखी है। इसके अनंतर एक मूर्ख को देखा कि वह अपने अपराधो को बंडल में बाँधकर फेंकने ले

आया है, किंतु अपराधों को फेंकने के बदले अपनी चेतनाशक्ति को फेंके देता है। एक दूसरे महापुरुष अविद्या के स्थान में नम्रता को पटक कर भागे जाते हैं।

जब इस प्रकार मनुष्यमात्र अपने अवगुणों की गठरियाँ फेंक चुके, तब वह चंचला युवती फिर दिखाई पड़ी, पर इस बार वह मेरी ओर आ रही है। यह देख मेरे जी मे अनेक प्रकार के विचार उठने लगे। पर उसकी मदमाती चाल कुछ ऐसी भली मालूम हुई कि मैं एकटक उसी ओर देखता रहा। उसके अंग अंग में ऐसी चंचलता भरी थी कि चलने में एक एक अंग फड़कता था। मैं यह देख ही रहा था कि वह आ पहुँची और जैसे कोई किसी को दर्पण दिखावे, उसने अपने बृहद्दर्शक यंत्र को मेरे सम्मुख किया। मै अपने चेहरे को उसमें देखकर चौक पड़ा। उसकी अपरिमित चौड़ाई पर मुझे बड़ी ग्लानि हुई और उसको उपमुख के समान उतारकर मैंने भी फेंक दिया। संयोग से जो मनुष्य मेरी बगल में खड़ा था उसने अभी कुछ देर पहले अपने बेढंब लंबे चेहरे को अलग कर दिया था। मैंने सोचा कि मुझे अपने लिये दूसरा चेहरा कहीं दूर खोजने नही जाना पड़ेगा और उसने भी यही सोचा कि उसे भी पास ही अपने योग्य सुडौल चेहरा मिल जायगा। मनुष्य मात्र अपनी आपत्तियाँ फेक चुके थे। इस कारण अब उन सबको अधिकार था कि, अपने लिये, जो चाहें ढेर में से ले लें।

वास्तव में मुझे यह देख वड़ी प्रसन्नता होती थी कि संसार के सब मनुष्यों ने अपनी अपनी विपद फेंक दी है। उनकी आकृति से संतोष लक्षित हो रहा था। अपने कार्य से छुट्टी पा सभी इधर उधर टहल रहे थे। पर अब मुझे यह देख आश्चर्य हो रहा था कि बहुतो ने जिसे आपत्ति समझकर अलग कर दिया था उसी के लिये बहुतेरे मनुष्य टूट रहे थे, एवं मनही मन यह कहते थे कि ऐसे स्वर्गीय पदार्थ को जिसने फेक दिया है वह अवश्य कोई मूर्ख होगा। अब भावना देवी फिर चंचल हुई और इधर उधर दौड़ धूप करने लगी। सबको फिर बहकाने लगी कि तू अमुक पदार्थ ले, अमुक वस्तु न ले।

इस समय सारी भीड़ में जो कोलाहल मच रहा था उसका वर्णन नही हो सकता। मनुष्य मात्र में एक प्रकार की खलबली फैल रही थी। क्या बालक, क्या बृद्ध, सभी अपने अपने मनोवांछित पदार्थ ढूंढ निकालने में दत्तचित्त हो रहे थे।

मैंने एक बृद्ध को, जिसे अपने एक उत्तराधिकारी की बड़ी चाह थी, देखा कि एक बालक को उठा रहा है। इस बालक को उसका पिता उससे दुःखी होकर फेंक गया था। मैंने देखा कि इस दुष्ट पुत्र ने कुछ देर बाद उस बृद्ध के नाकों मे दम कर दिया। वह बेचारा अंत में फिर यही विचारने लगा कि मेरा पूर्व क्रोध ही मुझे मिल जाय। संयोग से इस बालक के पिता से उसकी भेट हो गई। इस बृद्ध ने उससे सविनय कहा कि महाशय! आप अपना पुत्र ले लीजिए और मेरा

क्रोध मुझे लौटा दीजिए। पर अब ऐसा करने में वह समर्थ न था। एक जहाजी नौकर ने अपनी बेड़ी फेंक दी थी और बदले मे वात रोग की गठरी उठा ली थी। पर इससे उसका स्वरूप ऐसा विचित्र हो गया था कि देखते नही बनता था। इसी प्रकार सभी ने कुछ न कुछ हेरा-फेरी की। किसी ने अपने दारिद्र्य के पलटे मे कोई रोग पसद किया, किसी ने क्षुधा दे कर अजीर्ण उठा लिया। बहुतेरों ने अपनी पीड़ा के बदले कोई चिंता ले ली। पर सबसे अधिक स्त्रियाँ ही इस हेरा फेरी में दिखाई देती थीं। इन्हे अपने नाक, कान वा चेहरे मोहरे के चुनने में बड़ी कठिनाई मालूम पड़ती थी। कोई अपने मुख पर के तिल से लंबे लंबे केश बदल रही है, किसी ने पतली कमर के बदले चौड़ा सीना लेने की इच्छा प्रकट की है। किसी ने अपनी कुरूपता देकर वेश्यावृत्ति ग्रहण करना ही सस्ता समझ लिया है। जो हो, पर ये अबलाएँ अबला होने के कारण वा अपनी तीक्ष्णता के कारण अपनी नवीन दशा को शीघ्र ही समझ जायँगी एवं अपनी पूर्व दशा को प्राप्त करने और नवीन के त्यागने में सबसे पहले तत्पर हो जायँगी।

मुझे सबसे अधिक दया उस कुबड़े पर आती है जिसने अपना कुबड़ापन बदलकर पैर का लँगड़ापन पसंद किया था।

अब मैं अपना वृत्तांत सुनाता हूँ। मैं पहले कह चुका हूँ कि मेरे बगलवाले मनुष्य ने मेरा छोटा मुख अपने लिये चुन रखा था। उसने अवसर पाते ही मेरा चेहरा उठा लिया और

प्रसन्नतापूर्वक अपने चेहरे पर लगा लिया। मेरा गोल चेहरा लगाते ही वह ऐसा कुरूप तथा हास्यजनक दिखाई पड़ने लगा कि मैं हँसी न रोक सका। वह भी मेरी हँसी ताड़ गया और अपने किए पर अपने मन में पछताने लगा। अब मेरे मन मे भी यह विचार उठा कि कहो मैं भी वैसा ही बेढंगा न दिखाई पड़ता होऊँ। नवीन चेहरा पाकर मैंने अपना माथा खुरचने के लिये हाथ बढ़ाया तो माथे का स्थान भूल गया। हाथ होठों तक पहुँचकर रुक गया। नाक के स्थान का भी ठीक ठीक अनुभव न था। इसी से उँगलियो की कई बार ऐसी ठोकर लगी कि नेत्रों में जल भर आया। मेरे पास ही दो मनुष्य ऐसी बेढब सूरतवाले खड़े थे जिन्हें देख देख मैं मन ही मन हस रहा था।

वह सारा ढेर इस प्रकार मनुष्यो ने आपस में बाँट लिया पर वास्तविक संतोष को वे तिस पर भी न प्राप्त कर सके। जो बुद्धिमान थे उन्हें अपनी मूर्खता का बोध पहले होने लगा। सारे मैदान में पहले से अधिक विलाप और भनभनाहट का शब्द सुनाई देने लगा। जिधर दृष्टि पड़ती थी उसी ओर लोग विलख रहे थे और ब्रह्मा की दुहाई दे रहे थे। जब ब्रह्मा ने देखा कि अब बड़ा हाहाकार मच गया है और यदि शीघ्र इनका उद्धार न किया गया तो और भी हाहाकार मच जायगा, तब उन्होंने फिर आज्ञा दी कि मनुष्य मात्र फिर अपनी अपनी आपत्तियाँ फेंक दें, उनको उनकी पुरानी

आपत्ति दे दी जायगी। यह आज्ञा सुन सबके जी में जी आया। सभी लोग जो उपस्थित थे मुग्ध हो गए, एवं जय ध्वनि करने लगे। सबने पुनः अपनी अपनी गठरी फेंक दी। इस बार एक विशेषता देखने मे आई। वह यह थी कि ब्रह्मा ने उस चंचला स्त्री को आज्ञा दी कि वह तत्क्षण वहाँ से चली जाय। यह आज्ञा पाते ही भावना देवी वहाँ से चल दी। उसका वहाँ से जाना था कि एक दूसरी स्त्री आती दिखाई पड़ी। पर इसकी उसकी आकृति में इतना अधिक भेद था कि दोनों की तुलना करना कठिन है। पर हाँ, दो-चार मोटी मोटी बातो पर विवेचना करके उनका अंतर दिखा देना हम आवश्यक समझते है। पहली स्त्री के चंचल नेत्र तथा चाल ढाल ऐसी मनमोहनी थी कि एक अनजान भोले भाले चित्त को मुट्ठी में कर लेना उसके लिये कोई बड़ी बात न थी, पर इस नई स्त्री की आकृति कुछ और ही कह रही थी। इसके देखते ही चित्त में भय तथा सम्मान का संचार उत्पन्न हो आता था और चित्त यही चाहता था कि घंटो इसे खड़े देखा करें। जिस प्रकार विधना ने उसके अंग मे चंचलता कूट कूटकर भर दी थी, उसी प्रकार इसके प्रत्येक अंग से शांति तथा गंभीरता बरस रही थी। यदि उसे आप शिशुवत् चंचला कहें तो इसे आपको अवश्य ही शांति देवी की मूर्ति कहना पड़ेगा। इसके चेहरे से यद्यपि गंभीरता का भाव लक्षित होता था, पर साथ ही एक मंद मुसकान दिखाई देती थी

जिसका चित्त पर बड़ा दृढ़ प्रभाव पड़ता था। ज्योंही यह देवी मैदान मे पहुँची समस्त नेत्र इसकी ओर आकर्षित हो गए। यह धीरे धीरे आपत्तियो के पर्वत पर चढ़ गई। इसका उस ढेर पर चढ़ना था कि वह ढेर पहले की अपेक्षा तिगुना कम दिखाई देने लगा। न जाने इसमे क्या भेद था कि जितनी आपत्तियाँ थी, सभी कठोरता-रहित और कोमल दिखलाई पड़ने लगीं। मैं अतिव्यग्र हो इस देवी का नाम पूछने लगा। इस पर एक दयावान् ने झिड़ककर उत्तर दिया, रे मूर्ख! तू क्या इनसे परिचित नहीं है? इन्ही का नाम धीरता देवी है। अब ये देवी प्रत्येक मनुष्य को उसका पूर्व भाग बाँटने लगी और साथ ही साथ सबको समझाती जाती थी कि इस संसार में किस प्रकार अपनी अपनी आपत्तियो को धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए। जो मनुष्य उनकी वक्तृता सुनता, वह संतुष्ट हो वहाँ से जाता दिखाई देता था। मैं इस रूपक के देखने मैं ऐसा निमग्न था कि सारी मनुष्यजाति अपना अपना भाग ले अपने अपने निवास-स्थान को सिधारी, पर मैं वहीं ज्यो का त्यो खड़ा सब लीला देखता रहा, यहाँ तक कि जब उस स्त्री के पास जाने और अपना विपत्ति-भाग लेने की मेरी बारी आई तब भी मै अपने स्थान से नहीं टसका। इस पर एक आदमी मेरी ओर आता दिखाई पड़ा। मेरे पास आते ही पहले तो वह मुझसे कहने लगा कि "तुम वहाँ क्यो नही जाते?" इस पर मैं कुछ उत्तर

दिया ही चाहता था कि ऊँ ऊ ऊँ करके उठ बैठा और नींद खुल गई। नीद खुलते ही नेत्र फाड़ फाड़कर इधर उधर देखने लगा। न तो कही वह रमणीक स्थान था, न कहीं वह स्त्री थी, केवल मैं अपनी शय्या पर पड़ा था। मैं इस विचित्र स्वप्न पर विचार करने लगा। अंत मे मैंने यही सारांश निकाला कि वस्तुतः इस ससार में मनुष्य के लिये धैर्य्यपूर्वक अपनी आपत्तियों का सहन करना और कभी किसी दूसरे की दशा को ईर्ष्या की दृष्टि से न देखना ही सुख का मूल है।

राजा भोज का सपना

[राजा शिवप्रसाद]

वह कौन सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी राजा महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्त्ति तो सारे जगत् मे व्याप रही है। बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही कॉप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पॉव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगो का नमूना और खजाना उसका सोने चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगो के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया। कोई उसके राज्य भर में भूखा न सोता और न कोई उघाड़ा रहने पाता। जो सत्तू मॉगने आता उसे मोतीचूर मिलता और जो गजी चाहता उसे मलमल दी जाती। पैसे की जगह लोगों को अशर्फियॉ बॉटता और मेह की तरह भिखारियों पर मोती बरसाता। एक एक श्लोक के लिये ब्राह्मणों को लाख लाख रुपया उठा देता और सवा लक्ष ब्राह्मणों को षट्रस भोजन कराके तब आप खाने बैठता। तीर्थयात्रा, स्नान, दान और व्रत उपवास

में सदा तत्पर रहता। उसने बड़े बड़े चांद्रायण किए और बड़े बड़े जंगल पहाड़ छान डाले थे।

एक दिन शरद् ऋतु में संध्या के समय सुंदर फुलवाड़ी के बीच स्वच्छ पानी के कुंड के तीर, जिसमें कुमुद और कमलों के बीच जल-पक्षी कलोलें कर रहे थे, रत्नजटित सिंहासन पर कोमल तकिए के सहारे स्वस्थ चित्त बैठा हुआ वह महलों की—सुनहरी कलसियाँ लगी हुई—संगमर्मर की गुमजियों के पीछे से उदय होता हुआ पूर्णिमा का चंद्रमा देख रहा था और निर्जन एकांत होने के कारण मन ही मन में सोचता था कि अहो मैंने अपने कुल को ऐसा प्रकाश किया जैसे सूर्य्य से इन कमलों का विकास होता है। क्या मनुष्य और क्या जीव जंतु मैंने अपना सारा जन्म इन्हीं का भला करने में गँवाया और व्रत उपवास करते करते फूल से शरीर को काँटा बनाया। जितना मैंने दान किया उतना तो कभी किसी के ध्यान मे भी न आया होगा। जो मैं ही नहो तो फिर और कौन हो सकता है? मुझे अपने ईश्वर पर दावा है, वह अवश्य मुझे अच्छी गति देगा। ऐसा कब हो सकता है कि मुझे कुछ दोष लगे?

इसी अर्से में चोबदार ने पुकारा—"चौधरी इंद्रदत्त निगाह रूबरू!" श्रीमहाराज सलामत। भोज ने आँख उठाई, दीवान ने साष्टांग दंडवत की, फिर सम्मुख जा हाथ जोड़ यों निवेदन किया—"पृथ्वीनाथ, सड़क पर वे कुएँ जिनके वास्ते आपने हुक्म दिया था बनकर तैयार हो गए हैं और आम के बाग भी

सब जगह लग गए। जो पानी पीता है आपको असीस देता है और जो उन पेड़ों की छाया में विश्राम करता आपकी बढ़ती दौलत मनाता है।" राजा अति प्रसन्न हुआ और बोला कि "सुन, मेरी अमलदारी भर में जहाँ जहाँ सड़कें हैं कोस कोस पर कुएँ खोदवा के सदाव्रत बैठा दे और दुतरफा पेड़ भी जल्द लगवा दे।" इसी अर्से में दानाध्यक्ष ने आकर आशीर्वाद दिया और निवेदन किया—"धर्मावतार! वह जो पाँच हजार ब्राह्मण हर साल जाड़े में रजाई पाते हैं सो डेवढ़ी पर हाजिर हैं।" राजा ने कहा—"अब पाँच के बदले पचास हजार को मिला करे और रजाई की जगह शाल दुशाले दिए जावे।" दानाध्यक्ष दुशालों के लाने वास्ते तोशेखाने में गया। इमारत के दारोगा ने आकर मुजरा किया और खबर दी कि "महाराज! उस बड़े मंदिर की जिसके जल्द बना देने के वास्ते सरकार से हुक्म हुआ है आज नीव खुद गई, पत्थर गढ़े जाते है और लुहार लोहा भी तैयार कर रहे हैं।" महाराज ने तिउरियाँ बदलकर उस दारोगा को खूब घुड़का "अरे मूर्ख, वहाँ पत्थर और लोहे का क्या काम है? बिलकुल मंदिर सगमर्मर और संगमूसा से बनाया जावे और लोहे के बदले उसमे सब जगह सोना काम में आवे जिसमे भगवान् भी उसे देखकर प्रसन्न हो जावें और मेरा नाम इस संसार में अतुल कीर्ति पावे।"

यह सुनकर सारा दरबार पुकार उठा कि "धन्य महाराज!

क्यों न हो ? जब ऐसे हो तब तो ऐसे हो। आपने इस कलि-काल को सतयुग बना दिया, मानों धर्म का उद्धार करने को इस जगत् में अवतार लिया। आज आपसे बढ़कर और दूसरा कौन ईश्वर का प्यारा है, हमने तो पहले ही से आपको साक्षात् धर्मराज विचारा है।" व्यासजी ने कथा आरंभ की, भजन-कीर्तन होने लगा। चाँद सिर पर चढ़ आया। घड़ियाली ने निवेदन किया कि "महाराज! आधी रात के निकट है।" राजा की आँखों में नींद आ रही थी; व्यास कथा कहते थे पर राजा को ऊँघ आती थी। वह उठकर रनवास में गया।

जड़ाऊ पलँग और फूलों की सेज पर सोया। रानियाँ पैर दाबने लगीं। राजा की आँख झप गई तो स्वप्न में क्या देखता है कि वह बड़ा संगमर्मर का मंदिर बनकर बिलकुल तैयार हो गया, जहाँ कहीं उस पर नक्काशी का काम किया है वहाँ उसने बारीकी और सफाई में हाथीदाँत को भी मात कर दिया है, जहाँ कहीं पच्चीकारी का हुनर दिखलाया है वहाँ जवाहिरों को पत्थरों में जड़कर तसवीर का नमूना बना दिया है। कहीं लालों के गुलालों पर नीलम की बुलबुलें बैठी हैं और ओस की जगह हीरों के लोलक लटकाए हैं, कहीं पुखराजों की डंडियों से पन्ने के पत्ते निकालकर मोतियों के भुट्टे लगाए हैं। सोने की चोबों पर शामियाने और उनके नीचे बिल्लौर के हौजों में गुलाब और केवड़े के फुहारे छूट रहे हैं।

मनो धूप जल रहा है, सैकड़ो कपूर के दीपक बल रहे हैं। राजा देखते ही मारे घमंड के फूलकर मशक बन गया। कभी नीचे कभी ऊपर, कभी दाहने कभी बाएँ निगाह करता और मन में सोचता कि अब इतने पर भी मुझे क्या कोई स्वर्ग में घुसने से रोकेगा या पवित्र पुण्यात्मा न कहेगा ? मुझे अपने कर्मों का भरोसा है, दूसरे किसी से क्या काम पड़ेगा।

इसी अर्से में वह राजा उस सपने के मंदिर मे खड़ा खड़ा क्या देखता है कि एक ज्योति सी उसके सामने आसमान से उतरी चली आती है। उसका प्रकाश तो हजारो सूर्य से भी अधिक है, परंतु जैसे सूर्य को बादल घेर लेता है उसी प्रकार उसने मुँह पर घूँघट सा डाल लिया है, नहीं तो राजा की आँखे कब उसपर ठहर सकती थीं; इस घूँघट पर भी वे मारे चकाचौध के झपकी चली जाती थी। राजा उसे देखते ही काँप उठा और लड़खड़ाती सी जबान से बोला कि हे महाराज ! आप कौन हैं और मेरे पास किस प्रयोजन से आए है ? उस पुरुष ने बादल की गरज के समान गंभीर उत्तर दिया कि मैं सत्य हूँ, अधो की आँखें खोलता हूँ, मैं उनके आगे से धोखे की टट्टी हटाता हूँ, मैं मृगतृष्णा के भटके हुओ का भ्रम मिटाता हूँ और सपने के भूले हुओ को नीद से जगाता हूँ। हे भोज ! अगर कुछ हिम्मत रखता है तो आ, हमारे साथ आ, और हमारे तेज के प्रभाव से मनुष्यों के मन मंदिरो का भेद ले, इस समय हम तेरे ही मन को जाँच रहे है। राजा के जी

पर एक अजब दहशत सी छा गई। नीची निगाह करके वह गर्दन खुजलाने लगा। सत्य बोला—भोज ! तू डरता है, तुझे अपने मन का हाल जानने में भी भय लगता है ? भोज ने कहा—नहीं, इस बात से तो नहीं डरता क्योंकि जिसने अपने तईं नहीं जाना उसने फिर क्या जाना ? सिवाय इसके मैं तो आप चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जाँचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल सा शरीर काँटा बनाया, ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देते देते सारा खजाना खाली कर डाला, कोई तीर्थ बाकी न रखा, कोई नदी या तालाब नहाने से न छोड़ा, ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसकी निगाह में मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूँ। सत्य बोला, "ठीक, पर भोज, यह तो बतला कि तू ईश्वर की निगाह में क्या है ? क्या हवा में बिना धूप त्रसरेणु कभी दिखलाई देते हैं ? पर सूर्य्य की किरण पड़ते ही कैसे अनगिनत चमकने लग जाते हैं ? क्या कपड़े से छाने हुए मैले पानी में किसी को कीड़े मालूम पड़ते हैं ? पर जब खुर्दबीन शीशे को लगाकर देखो तो एक एक बूँद में हजारों ही जीव सूझने लग जाते है। जो तू उस बात के जानने से जिसे अवश्य जानना चाहिए डरता नहीं तो आ मेरे साथ आ, मैं तेरी आँखें खोलूँगा।"

निदान सत्य यह कह राजा को उस बड़े मंदिर के ऊँचे दर्वाजे पर चढ़ा ले गया जहाँ से सारा बाग दिखलाई देता था

और फिर वह उससे यों कहने लगा कि भोज, मैं अभी तेरे पापकर्मों की कुछ भी चर्चा नहीं करता, क्योंकि तूने अपने तईं निरा निष्पाप समझ रखा है, पर यह तो बतला कि तूने पुण्य-कर्म कौन कौन से किए हैं कि जिनसे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर संतुष्ट होगा। राजा यह सुनके अत्यंत प्रसन्न हुआ। यह तो मानो उसके मन की बात थी। पुण्य-कर्म के नाम ने उसके चित्त को कमल सा खिला दिया। उसे निश्चय था कि पाप तो मैंने चाहे किया हो चाहे न किया हो, पर पुण्य मैंने इतना किया है कि भारी से भारी पाप भी उसके पासंग में न ठहरेगा। राजा को वहाँ उस समय सपने में तीन पेड़ बड़े ऊँचे अपनी आँख के सामने दिखाई दिए। फलों से वे इतने लदे हुए थे कि मारे बोझ के उनकी टहनियाँ धरती तक झुक गई थीं। राजा उन्हें देखते ही हरा हो गया और बोला कि सत्य—यह ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया अर्थात् ईश्वर और मनुष्य दोनों की प्रीति के पेड़ हैं, देख फलों के बोझ से ये धरती पर नए हैं। ये तीनों मेरे ही लगाए हैं। पहले में तो वे सब लाल लाल फल मेरे दान से लगे हैं और दूसरे में वे पीले पीले मेरे न्याय से और तीसरे में ये सब सफेद फल मेरे तप का प्रभाव दिखाते हैं। मानो उस समय यह ध्वनि चारों ओर से राजा के कानों में चली आती थी कि धन्य हो! आज तुम सा पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं, तुम साक्षात् धर्म के अवतार हो, इस लोक में भी तुमने बड़ा पद पाया है और उस लोक में

भी इससे अधिक मिलेगा; तुम मनुष्य और ईश्वर दोनों की आँखो में निर्दोष और निष्पाप हो। सूर्य्य के मंडल में लोग कलंक बतलाते है पर तुम पर एक छींट भी नहीं लगाते।

सत्य बोला कि "भोज, जब मै इन पेड़ों के पास था जिन्हे तू ईश्वर की भक्ति और जीवो की दया के बतलाता है तब तो इनमें फल–फूल कुछ भी नही थे, ये निरे ठूँठ से खड़े थे। ये लाल, पीले और सफेद फल कहाँ से आ गए? ये सचमुच उन पेड़ो में फल लगे हैं या तुझे फुसलाने और वश करने को किसी ने उनकी टहनियों से लटका दिए है ? चल, उन पेड़ो के पास चलकर देखें तो सही। मेरी समझ मे तो ये लाल लाल फल जिन्हें तू अपने दान के प्रभाव से लगे बतलाता है यश और कीर्त्ति फैलाने की चाह अर्थात् प्रशंसा पाने की इच्छा ने इस पेड़ में लगाए हैं।" निदान ज्योंही सत्य ने उस पेड़ के छूने को हाथ बढ़ाया, राजा सपने में क्या देखता है कि वे सारे फल जैसे आस्मान से ओले गिरते हैं एक आन की आन में धरती पर गिर पड़े। धरती सारी लाल हो गई; पेड़ों पर सिवाय पत्तो के और कुछ न रहा। सत्य ने कहा कि "राजा जैसे कोई किसी चीज को मोम से चिपकाता है उसी तरह तूने अपने भुलाने को प्रशंसा की इच्छा से ये फल इस पेड़ पर लगा लिए थे। सत्य के तेज से यह मोम गल गया, पेड़ ठूँठ का ठूँठ रह गया। जो तूने दिया और किया सब दुनिया के दिखलाने और मनुष्यो से प्रशंसा पाने के लिए, केवल ईश्वर की भक्ति

और जीवों की दया से तो कुछ भी नहीं दिया। यदि कुछ दिया हो या किया हो तो तूही क्यों नहीं बतलाता। मूर्ख, इसीके भरोसे पर तू फूला हुआ स्वर्ग मे जाने को तैयार हुआ था।

भोज ने एक ठंडी साँस ली। उसने तो औरों को भूला समझा था पर वह सबसे अधिक भूला हुआ निकला। सत्य ने उस पेड़ की तरफ हाथ बढ़ाया जो सोने की तरह चमकते हुए पीले पीले फलों से लदा हुआ था। सत्य बोला—"राजा ये फल तूने अपने भुलाने को, स्वर्ग की स्वार्थसिद्धि करने की इच्छा से लगा लिए थे। कहनेवाले ने ठीक कहा है कि मनुष्य मनुष्य के कर्मों से उसके मन की भावना का विचार करता है और ईश्वर मनुष्य के मन की भावना के अनुसार उसके कर्मों का हिसाब लेता है। तू अच्छी तरह जानता है कि यही न्याय तेरे राज्य की जड़ है। जो न्याय न करे तो फिर यह राज्य तेरे हाथ में क्योंकर रह सके। जिस राज्य में न्याय नहीं वह तो बे-नींव का घर है, बुढ़िया के दाँतों की तरह हिलता है, अब गिरा तब गिरा। मूर्ख, तू ही क्यों नहीं बतलाता कि यह तेरा न्याय स्वार्थ सिद्ध करने और सांसारिक सुख पाने को इच्छा से है अथवा ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से?"

भोज की पेशानी पर पसीना हो आया, उसने आँखें नीची कर लीं, उससे जवाब कुछ न बन पड़ा। तीसरे पेड़ की बारी आई। सत्य का हाथ लगते ही उसकी भी वही हालत हुई।

राजा अत्यंत लज्जित हुआ। सत्य ने कहा कि "मूर्ख! ये तेरे तप के फल कदापि नहीं, इनको तो इस पेड़ पर तेरे अहंकार ने लगा रखा था। वह कौन सा व्रत व तीर्थयात्रा है जो तूने निरहंकार केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से

ने यह तप केवल इसी वास्ते किया कि जिसमें तू अपने तईं औरों से अच्छा और बढ़कर विचारे। ऐसे ही तप पर गोबर-गनेस, तू स्वर्ग मिलने की उम्मेद रखता है? पर यह तो बतला कि मंदिर के इन मुंडेरों पर वे जानवर से क्या दिखलाई देते हैं; कैसे सुंदर और प्यारे मालूम होते हैं पर तो उनके पन्ने के हैं और गर्दन फिरोजे की, दुम में सारे किस्म के जवाहिरात जड़ दिए हैं।" राजा के जी में घमंड की चिड़िया ने फिर फुरफुरी ली, मानों बुझते हुए दीये की तरह वह जगमगा उठा। जल्दी से उसने जवाब दिया कि "हे सत्य, यह जो कुछ तू मंदिर की मुंडेरों पर देखता है मेरे संध्यावंदन का प्रभाव है। मैंने जो रातों जाग जागकर और माथा रगड़ते रगड़ते इस मंदिर की देहली को घिसकर ईश्वर की स्तुति वंदना और विनती प्रार्थना की है वे ही अब चिड़ियों की तरह पंख फैलाकर आकाश को जाती हैं, मानो ईश्वर के सामने पहुंचकर अब मुझे स्वर्ग का राजा बनाती हैं" सत्य ने कहा कि राजा, दीनबंधु करुणासागर श्रीजगन्नाथ जगदीश्वर अपने भक्तों की विनती सदा सुनता रहता है और जो मनुष्य शुद्ध-हृदय और निष्कपट होकर नम्रता और श्रद्धा के साथ अपने

दुष्कर्मों का पश्चात्ताप अथवा उनके क्षमा होने का टुक भी निवेदन करता है वह उसका निवेदन उसी दम सूर्य चाँद को बेधकर पार हो जाता है, फिर क्या कारण कि ये सब अब तक मंदिर के मुँडेरे पर बैठ रहे ? आ चल, देखें तो सही हम लोगों के पास जाने पर आकाश को उड़ जाते हैं या उसी जगह पर परकटे कबूतरों की तरह फड़फड़ाया करते हैं।

भोज डरा लेकिन उसने सत्य का साथ न छोड़ा। जब वह मुँडेरे पर पहुँचा तो क्या देखता है कि वे सारे जानवर जो दूर से ऐसे सुंदर दिखलाई देते थे मरे हुए पड़े हैं; पंख नुचे खुचे और बहुतेरे बिलकुल सड़े हुए, यहाँ तक कि मारे बदबू के राजा का सिर भिन्ना उठा। दो एक ने, जिनमें कुछ दम बाकी था, जो उड़ने का इरादा भी किया तो उनका पंख पारे की तरह भारी हो गया और उसने उन्हें उसी ठौर दबा रखा। वे तड़फा जरूर किए, पर उड़ जरा भी न सके। सत्य बोला—'भोज, बस यही तेरे पुण्यकर्म है, इसी स्तुति वंदना और विनती प्रार्थना के भरोसे पर तू स्वर्ग में जाया चाहता है। सूरत तो इनकी बहुत अच्छी है पर जान बिलकुल नहीं। तूने जो कुछ किया केवल लोगो के दिखलाने को, जी से कुछ भी नहीं। जो तू एक बार भी जी से पुकारा होता कि 'दीनबंधु दीनानाथ दीनहितकारी ! मुझ पापी महा अपराधी डूबते हुए को बचा और कृपादृष्टि कर' तो वह तेरी पुकार तीर की तरह तारों से पार पहुँची होती।" राजा ने सिर नीचा कर लिया, उसँसे

उत्तर कुछ न बन आया। सत्य ने कहा कि 'भोज! अब आ, फिर इस मंदिर के अंदर चले और वहाँ तेरे मन के मंदिर को जाँचें। यद्यपि मनुष्य के मन के मंदिर में ऐसे ऐसे अँधेरे तहखाने और तलघरे पड़े हुए हैं कि उनको सिवाय सर्वदर्शी घट घट अंतर्यामी सकल जगत्स्वामी के और कोई भी नही देख अथवा जाँच सकता, तो भी तेरा परिश्रम व्यर्थ न जायगा"।

राजा सत्य के पीछे खिंचा खिचा फिर मंदिर के अंदर घुसा, पर अब तो उसका हाल ही कुछ से कुछ हो गया। सचमुच सपने का खेल सा दिखलाई दिया। चाँदी की सारी चमक जाती रही, सोने की बिलकुल दमक उड़ गई, सोने में लोहे की तरह मोर्चा लगा हुआ, जहाँ जहाँ से मुलम्मा उड़ गया था भीतर का ईंट-पत्थर कैसा बुरा दिखलाई देता था। जवाहिरों की जगह केवल काले काले दाग रह गए थे, और संगमर्मर की चट्टानों में हाथ हाथ भर गहरे गढ़े पड़ गए थे। राजा यह देखकर भौंचक्का सा रह गया, औसान जाते रहे, हक्काबक्का बन गया। उसने धीमी आवाज से पूछा कि ये टिड्डीदल की तरह इतने दाग इस मंदिर में कहाँ से आए? जिधर मैं निगाह उठाता हूँ सिवाय काले काले दागों के और कुछ भी नहीं दिखलाई देता। ऐसा तो छीपी छींट भी नहीं छापेगा और न शीतला से बिगड़ा किसी का चेहरा ही देख पड़ेगा। सत्य बोला कि "राजा ये दाग जो तुझे इस मंदिर में

दिखलाई देते हैं दुर्वचन हैं जो दिन-रात तेरे मुख से निकला किए हैं। याद तो कर, तूने क्रोध में आकर कैसी कड़ी कड़ी बातें लोगों को सुनाई हैं। क्या खेल में और क्या अपना अथवा दूसरे का चित्त प्रसन्न करने को, क्या रुपया बचाने अथवा अधिक लाभ पाने को और दूसरे का देश अपने हाथ में लाने अथवा किसी बराबरवाले से अपना मतलब निकालने और दुश्मनों को नीचा दिखलाने को तैंने कितना झूठ बोला है। अपने ऐब छिपाने और दूसरे की आँखों में अच्छा मालूम होने अथवा झूठी तारीफ पाने के लिये तैंने कैसी कैसी शेखियाँ हाँकी हैं और अपने को औरों से अच्छा और औरों को अपने से बुरा दिखलाने को कहाँ तक बातें बनाई हैं सो क्या अब कुछ भी याद न रहा, बिलकुल एकबारगी भूल गया ? पर वहाँ तो वे तेरे मुँह से निकलते ही वहीं में दर्ज हुईं। तू इन दागों के गिनने में असमर्थ है पर उस घट-घट-निवासी अनत-अविनाशी को एक एक बात जो तेरे मुँह से निकली है याद है और याद रहेगी। उसके निकट भूत और भविष्य वर्तमान सा है।"

भोज ने सिर न उठाया पर उसी दबी जबान से इतना मुँह से और निकाला कि दाग तो दाग पर ये हाथ हाथ भर के गढ़े क्योंकर पड़ गए, सोने चाँदी में मोर्चा लगकर ये ईंट पत्थर कहाँ से दिखलाई देने लगे ? सत्य ने कहा कि राजा क्या तूने कभी किसी को कोई लगती हुई बात

नहीं कही अथवा बोली ठोली नहीं मारी ? अरे नादान, यह बोली ठोली तो गोली से अधिक काम कर जाती है, तू तो इन गढ़ों ही को देखकर रोता है पर तेरे ताने तो बहुतों की छातियों से पार हो गए। जब एक अहंकार का मोर्चा लगा तो फिर यह देखलावे का मुलम्मा कब तक ठहर सकता है ! स्वार्थ और अश्रद्धा का ईंट-पत्थर प्रकट हो गया।" राजा को इस अर्से में चिमगादड़ों ने बहुत तंग कर रखा था। मारे बू के सिर फटा जाता था। भुनगो और पतंगों से सारा मकान भर गया था, बीच बीच में पंखवाले साँप और बिच्छू भी दिखलाई देते थे। राजा घबराकर चिल्ला उठा कि यह मैं किस आफत में पड़ा, इन कमबख्तो को यहाँ किसने आने दिया ? सत्य बोला "राजा सिवाय तेरे इनको यहाँ और कौन आने देगा ? तू ही तो इन सबको लाया। ये सब तेरे मन की बुरी वासनाएँ हैं। तूने समझा था कि जैसे समुद्र में लहरें उठा और मिटा करती हैं उसी तरह मनुष्य के मन में भी संकल्प की मौजें उठकर मिट जाती हैं। पर रे मूढ़ ! याद रख, कि आदमी के चित्त में ऐसा सोच विचार कोई नहीं आता जो जगकर्त्ता प्राणदाता परमेश्वर के सामने प्रत्यक्ष नहीं हो जाता। ये चिमगादड़ और भुनगे और साँप बिच्छू और कीड़े मकोड़े जो तुझे दिखलाई देते हैं वे सब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, अभिमान, मद, ईर्षा के संकल्प विकल्प हैं जो दिन-रात तेरे अंतःकरण में उठा किए और इन्ही चिमगादड़ और भुनगों और साँप बिच्छू और कोड़े

मकोड़ों की तरह तेरे हृदय के आकाश में उड़ते रहे। क्या कभी तेरे जी में किसी राजा की ओर से कुछ द्वेष नहीं रहा या उसके मुल्क माल पर लोभ नहीं आया या अपनी बड़ाई का अभिमान नहीं हुआ या दूसरे की सुंदर स्त्री देखकर उस पर दिल न चला ?"

राजा ने एक बड़ी लंबी ठंढी साँस ली और अत्यंत निराश होके यह बात कही कि इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो कह सके कि मेरा हृदय शुद्ध और मन में कुछ भी पाप नहीं। इस संसार मे निष्पाप रहना बड़ा ही कठिन है। जो पुण्य करना चाहते हैं उनमें भी पाप निकल आता है। इस संसार मे पाप से रहित कोई भी नहीं, ईश्वर के सामने पवित्र पुण्यात्मा कोई भी नहीं। सारा मंदिर वरन् सारी धरती, आकाश गूँज उठा "कोई भी नहीं, कोई भी नही।" सत्य ने जो आँख उठाकर उस मंदिर की एक दीवार की ओर देखा तो उसी दम संगमर्मर से आईना बन गया। उसने राजा से कहा कि अब टुक इस आईने का भी तमाशा देख और जो कर्त्तव्य कर्मों के न करने से तुझे पाप लगे हैं उनका भी हिसाब ले। राजा उस आईने में क्या देखता है कि जिस प्रकार बरसात की चढ़ी हुई किसी नदी में जल के प्रवाह बहे जाते हैं उसी प्रकार अनगिनत सूरतें एक ओर से निकलती और दूसरी ओर अलोप होती चली जाती हैं। कभी तो राजा को वे सब भूखे और नंगे इस आईने में दिखलाई देते जिन्हें राजा खाने पहनने

को दे सकता था पर न देकर दान का रुपया उन्हीं हट्टे कट्टे मोटे मुसंड खाते पीतों को देता रहा जो उसकी खुशामद करते थे या किसी की सिफारिश ले आते थे या उसके कारदारों को घूँस देकर मिला लेते थे या सवारी के समय माँगते माँगते और शोर गुल मचाते मचाते उसे तंग कर डालते थे या दर्बार में आकर उसे लज्जा के भँवर में गिरा देते थे या झूठा छापा तिलक लगाकर उसे मक्र के जाल मे फँसा लेते थे या जन्मपत्र के भले बुरे ग्रह बतलाकर कुछ धमकी भी दिखला देते थे या सुंदर कवित्त और श्लोक पढ़कर उसके चित्त को लुभाते थे। कभी वे दीन दुखी दिखलाई देते जिन पर राजा के कारदार जुल्म किया करते थे और उसने कुछ भी उसकी तहकीकात और उपाय न किया। कभी उन बीमारो को देखता जिनका चंगा करा देना राजा के अख्तियार मे था, कभी वे व्यथा के जले और विपत्ति के मारे दिखलाई देते जिनका जी राजा के दो बात कहने से ठढा और संतुष्ट हो सकता था। कभी अपने लड़के लड़कियों को देखता था जिन्हे वह पढ़ा लिखाकर अच्छी अच्छी बाते सिखाकर बड़े बड़े पापो से बचा सकता था। कभी उन गॉव और इलाको को देखता जिनमे कुएँ तालाब और किसानों को मदद देने और उन्हे खेती बारी की नई नई तर्कीबें बतलाने से हजारो गरीबो का भला कर सकता था। कभी उन टूटे हुए पुल और रास्तो को देखता जिन्हे दुरुस्त करने से वह लाखो मुसाफिरों को आराम पहुँचा सकता था।

राजा से अधिक देखा न जा सका, थोड़ी देर में घवराकर हाथों से उसने अपनी आँखे ढाँप ली। वह अपने घमंड में उन सब कामों को तो सदा याद रखता था और उनकी चर्चा किया करता जिन्हें वह अपनी समझ में पुण्य के निमित्त किए हुए समझता था, पर उसने उन कर्त्तव्य कामो का कभी टुक सोच न किया जिन्हें अपनी उन्मत्तता से अचेत होकर छोड़ दिया था। सत्य बोला—"राजा अभी से क्यों घवरा गया ? आ इधर आ, इस दूसरे आईने में तुझे अब उन पापों को दिखलाता हूँ जो तूने अपनी उमर में किए हैं।" राजा ने हाथ जोड़ा और पुकारा कि बस महाराज. बस कीजिए, जो कुछ देखा उसी में मैं तो मिट्टी हो गया, कुछ भी बाकी न रहा; अब आगे क्षमा कीजिए। पर यह बतलाइए कि आपने यहाँ आकर मेरे शर्बत में क्यों जहर घोला और पकी पकाई खीर में साँप का विष उगला और मेरे आनंद को इस मंदिर में आकर नाश में मिलाया जिसे मैंने सर्वशक्तिमान् भगवान् के अर्पण किया है ? चाहे जैसा यह बुरा और अशुद्ध क्यों न हो पर मैंने तो उसी के निमित्त बनाया है। सत्य ने कहा—"ठीक, पर यह तो बतला कि भगवान् इस मंदिर में बैठा है ? यदि तूने भगवान को इस मंदिर में बिठाया होता तो फिर वह अशुद्ध क्यों रहता ! जरा आँख उठाकर उस मूर्ति को तो देख जिसे तू जन्म भर पूजता रहा है।"

राजा ने जो आँख उठाई तो क्या देखता है कि वहाँ उस

बड़ी ऊँची वेदी पर उसी की मूर्ति पत्थर की गढ़ी हुई रखी है और अभिमान की पगड़ी बाँधे हुए है। सत्य ने कहा कि 'मूर्ख, तूने जो काम किए केवल अपनी प्रतिष्ठा के लिये। इसी प्रतिष्ठा के प्राप्त होने की तेरी भावना रही है और इसी प्रतिष्ठा के लिये तूने अपनी आप पूजा की। रे मूर्ख, सकल जगत्स्वामी घट-घट-अंतर्यामी, क्या ऐसे मनरूपी मंदिरों में भी अपना सिंहासन बिछने देता है, जो अभिमान और प्रतिष्ठाप्राप्ति की इच्छा इत्यादि से भरा है? यह तो उसकी बिजली पड़ने के योग्य है।" सत्य का इतना कहना था कि सारी पृथ्वी एकबारगी काँप उठी, मानो उसी दम टुकड़ा टुकड़ा हुआ चाहती थी, आकाश में ऐसा शब्द हुआ कि जैसे प्रलयकाल का मेघ गरजा। मंदिर की दीवारें चारों ओर से अड़अड़ाकर गिर पड़ीं, मानों उस पापी राजा को दबा ही लेना चाहती थीं। उस अहंकार की मूर्ति पर एक ऐसी बिजली गिरी कि वह धरती पर औंधे मुँह आ पड़ी। 'त्राहि माम्, त्राहि माम्, मैं डूबा,' कहके भोज जो चिल्लाया तो आँख उसकी खुल गई और सपना सपना हो गया।

इस अर्से में रात बीतकर आसमान के किनारों पर लाली दौड़ आई थी, चिड़ियाँ चहचहा रही थीं, एक ओर से शीतल मंद सुगंध पवन चली आती थी, दूसरी ओर से बीन और मृदंग की ध्वनि। बंदीजन राजा का यश गाने लगे हर्कारे हर तरफ काम को दौड़े, कमल खिले, कुमुद कुम्हलाए। राजा

पलँग से उठा पर जी भारी, माथा थामे हुए, न हवा अच्छी लगती थी, न गाने बजाने की कुछ सुधबुध थी। उठते ही पहले उसने यह हुक्म दिया कि "इस नगर में जो अच्छे से अच्छे पंडित हो जल्द उनको मेरे पास लाओ। मैंने एक सपना देखा है कि जिसमें आगे अब यह सारा खटराग सपना मालूम होता है। उस सपने के स्मरण ही से मेरे रोंगटे खड़े हुए जाते हैं।" राजा के मुख से हुक्म निकलने की देर थी, चोबदारों ने तीन पंडितो को जो उस समय वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य और बृहस्पति के समान प्रख्यात थे, बात की बात में राजा के सामने ला खड़ा किया। राजा का मुँह पीला पड़ गया था, माथे पर पसीना हो आया था। उसने पूछा कि "वह कौन सा उपाय है जिससे यह पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पावे?" उनमें से एक बड़े बूढ़े पडित ने आशीर्वाद देकर निवेदन किया कि "धर्मराज धर्मावतार, यह भय तो आपके शत्रुओ को होना चाहिए। आपसे पवित्र पुण्यात्मा के जी मे ऐसा संदेह क्यो उत्पन्न हुआ? आप अपने पुण्य के प्रभाव का जामा पहन के बेखटके परमेश्वर के सामने जाइए, न तो वह कहीं से फटा कटा है और न किसी जगह से मैला कुचैला है" राजा क्रोध करके बोला कि "बस अपनी वाणी को अधिक परिश्रम न दीजिए और इसी दम अपने घर की राह लीजिए। क्यो आप फिर उस पर्दे को डाला चाहते हैं जो सत्य ने मेरे सामने से हटाया है? बुद्धि की आँखो को बंद किया चाहते

हैं जिन्हें सत्य ने खोला है? उस पवित्र परमात्मा के सामने अन्याय कभी नहीं ठहर सकता। मेरे पुण्य का जामा उसके आगे निरा चीथड़ा है। यदि वह मेरे कामों पर निगाह करेगा तो नाश हो जाऊँगा, मेरा कहीं पता भी न लगेगा?"

इतने में दूसरा पंडित बोल उठा कि "महाराज परब्रह्म परमात्मा जो आनंदस्वरूप है उसकी दया के सागर का कब किसी ने वारापार पाया है, वह क्या हमारे इन छोटे छोटे कामों पर निगाह किया करता है, वह कृपा-दृष्टि से सारा बेड़ा पार लगा देता है।" राजा ने आँखे दिखलाके कहा कि "महाराज! आप भी अपने घर को सिधारिए। आपने ईश्वर को ऐसा अन्यायी ठहरा दिया है कि वह किसी पापी को सजा नहीं देता, सब धान बाईस पसेरी तोलता है, मानों हरबोंगपुर का राज करता है। इसी संसार में क्यों नहीं देख लेते जो आम बोता है वह आम खाता है और जो बबूल लगाता है वह काँटे चुनता है। क्या उस लोक में जो जैसा करेगा सर्वदर्शी घट-घट अंतर्यामी से उसका बदला वैसा ही न पावेगा? सारी सृष्टि पुकारे कहती है, और हमारा अंतःकरण भी इस बात की गवाही देता है कि ईश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा; जो जैसा करेगा वैसा ही उससे उसका बदला पावेगा।"

तब तीसरा पंडित आगे बढ़ा और उसने यों जबान खोली

कि "महाराज! परमेश्वर के यहाँ हम लोगों को वैसा ही बदला मिलेगा जैसा कि हम लोग काम करते हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं, आप बहुत यथार्थ फर्माते है। परमेश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा, पर वे इतने प्रायश्चित्त और होम और यज्ञ और जप, तप, तीर्थयात्रा किसलिये बनाए गए हैं? वे इसी लिये हैं कि जिसमें परमेश्वर हम लोगो का अपराध क्षमा करे और बैकुंठ में अपने पास रहने की ठौर देवे।" राजा ने कहा "देवताजी, कल तक तो मैं आपकी सब बात मान सकता था लेकिन अब तो मुझे इन कामो मे भी ऐसा कोई दिखलाई नहीं देता जिसके करने से यह पापी मनुष्य पवित्र पुण्यात्मा हो जावे। वह कौन सा जप, तप, तीर्थयात्रा, होम, यज्ञ और प्रायश्चित्त है जिसके करने से हृदय शुद्ध हो और अभिमान न आ जावे? आदमी को फुसला लेना तो सहज है पर उस घट घट के अंतर्यामी को क्योंकर फुसलावे! जब मनुष्य का मन ही पाप से भरा हुआ है तो फिर उससे पुण्य कर्म कोई कहाँ से बन आवे। पहले आप उस स्वप्न को सुनिए जो मैंने रात को देखा है तब फिर पीछे वह उपाय बतलाइए जिससे पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पाता है।"

निदान राजा ने जो कुछ स्वप्न रात में देखा, सब ज्यों का त्यों उस पंडित को कह सुनाया। पंडित जी तो सुनते ही अवाक् हो गए, उन्होंने सिर झुका लिया। राजा ने निराशा होकर चाहा कि तुपानल में जल मरे पर एक पर-

देशी आदमी सा, जो उन पंडितो के साथ विना बुलाए घुस आया था यों निवेदन करने लगा—"महाराज, हम लोगों का कर्ता ऐसा दीनबंधु कृपासिंधु है कि अपने मिलने की राह आप ही बतला देता है, आप निराश न हूजिए पर उस राह को ढूँढ़िए। आप इन पंडितो के कहने में न आइए पर उसी से उस राह के पाने की सच्चे जी से मदद माँगिए।" हे पाठक्-जनो। क्या तुम भी भोज की तरह ढूँढ़ते हो और भगवान् से उस राह के मिलने की प्रार्थना करते हो? भगवान् तुम्हें ऐसी बुद्धि दे और अपने राह पर चलावे, यही हमारे अंतःकरण का आशीर्वाद है।

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।

आप

[पंडित प्रतापनारायण मिश्र]

ले भला बतलाइए तो आप क्या हैं ? आप कहते होंगे, वाह आप तो आप ही हैं, यह कहाँ की आपदा आई ? यह भी कोई पूछने का ढंग है ? पूछा होता कि आप कौन हैं तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं और आप ब्राह्मण-सपादक हैं, अथवा आप पंडित जी हैं, आप राजा जी हैं, आप सेठ जी हैं, आप लाला जी हैं, आप बाबू साहब हैं, आप मियाँ साहब, आप निरे साहब हैं। आप क्या है ? यह तो कोई प्रश्न की रीति ही नहीं है वाचक महाशय ! यह हम भी जानते हैं कि आप आप ही हैं, और हम भी वही हैं, तथा इन साहबों की भी लंबी धोती, चमकीली पोशाक, खुँटिहई अंगरखी (मिरजई), सीधी माँग, विलायती चाल, लंबी दाढ़ी और साह बानी हवस ही कहे देती है कि—

"किस रोग की हैं आप दवा कुछ न पूछिए ।"

अच्छा साहब, फिर हमने पूछा तो क्यों पूछा ? इसीलिये कि देखें आप (आप) का ज्ञान रखते हैं वा नहीं, जिस आप को आप अपने लिये तथा औरों के प्रति दिन-रात मुँह पर धरे

रहते हैं, वह आप क्या है ? इसके उत्तर में आप कहिएगा कि एक सर्वनाम है, जैसे मै, तू, हम, तुम, यह, वह आदि हैं वैसे ही आप भी है, और क्या है, पर इतना कह देने से न हमीं संतुष्ट होंगे न आप ही के शब्दशास्त्र-ज्ञान का परिचय होगा। इससे अच्छे प्रकार कहिए कि जैसे "मैं" का शब्द अपनी नम्रता दिखलाने के लिये बिल्ली की बोली का अनुकरण है, "तू" का शब्द मध्यम पुरुष की तुच्छता व प्रीति सूचित करने के अर्थ में कुत्ते के संबोधन की नकल है; हम तुम संस्कृत के अहं त्वं का अपभ्रंश है, वह निकट और दूर की वस्तु वा व्यक्ति के द्योतनार्थ स्वाभाविक उच्चारण है, वैसे 'आप' क्या है, किस भाषा के किस शब्द का शुद्ध वा अशुद्ध रूप है और आदर ही में बहुधा क्यो प्रयुक्त होता है ?

हुजूर की मुलाजमत से अक्ल ने इस्तेअफा दे दिया हो तो दूसरी बात है, नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि "आप" लफज फारसी या अरबीस्त, अथवा 'ओः इटिज एन इँगलिश वर्ड" । जब यह नही हैं तो खाहमखाह यह हिंदी शब्द है, पर कुछ सिर-पैर मूड़-गोड़ भी है कि यों ही ? आप छूटते ही सोच सकते हैं कि संस्कृत में आप कहते हैं जल को, और शास्त्रों में लिखा है कि विधाता ने सृष्टि के आदि में उसी को बनाया था, यथा—'अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्', तथा हिंदी में पानी और फारसी में आब का अर्थ शोभा अथच प्रतिष्ठा आदि हुआ करता है, जैसे "पानी उतरिगा तरवारिन को उड

करछुलि के मोल बिकायँ" तथा "पानी उतरिगा रजपूती को उइ फिर बिसुऔं ते (वेश्या से भी) वहि जायँ", और फारसी में 'आबरू खाक में मिला बैठे' इत्यादि।

इस प्रकार पानी की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुषों को भी उसी के नाम से आप पुकारने लगे होंगे। यह आपका समझना निरर्थक तो न होगा, बड़प्पन और आदर का अर्थ अवश्य निकल आवेगा, पर खींच-खांचकर, और साथ ही यह शंका भी कोई कर बैठे तो अयोग्य न होगी कि पानी के जल, वारि, अंबु, नीर, तोय इत्यादि और भी तो कई नाम हैं उनका प्रयोग क्यों नहीं करते, 'आप' ही को सुर्खाब का पर कहाँ लगा है? अथवा पानी की सृष्टि सबके आदि में होने के कारण वृद्ध ही लोगों को उसके नाम से पुकारिए तो युक्तियुक्त हो सकता है, पर आप तो अवस्था में छोटों को भी आप आप कहा करते है, यह आपकी कौन सी विज्ञता है? या हम यों भी कह सकते हैं कि पानी में गुण चाहे जितने हों, पर गति उसकी नीच ही होती है। तो क्या आप हमको मुह से आप आप करके अधोगामी बनाया चाहते हैं? हमें निश्चय है कि आप पानीदार होंगे तो इस बात के उठते ही पानी पानी हो जायँगे, और फिर कभी यह शब्द मुँह पर भी न लावेंगे।

सहृदय सुहृद् गण आपस में आप आप की बोली बोलते भी नहीं हैं। एक हमारे उर्दूदाँ मुलाकाती मौखिक मित्र बनने की

अभिलाषा से आते-जाते थे, पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का सा देखा तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के सामने की बात न्यारी है, अकेले में अथवा अपनायतवालों के आगे आप आप न किया करो, इसमें भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है। पर वह इस बात को न माने, हमने दो चार बार समझाया पर वह "आप" थे, क्यों मानने लगे ? इस पर हमें झुँझलाहट छूटी तो एक दिन उनके आते ही और "आप" का शब्द मुँह पर लाते ही हमने कह दिया कि आप की ऐसी तैसी ! यह क्या बात है कि तुम मित्र बनकर हमारा कहना नहीं मानते ? प्यार के साथ तू कहने में जितना मजा आता है उतना बनावट से आप साँप कहो तो कभी सपने में नहीं आने का। इस उपदेश को वह मान गए। सच तो यह है कि प्रेम-शास्त्र में, कोई बंधन न होने पर भी इस शब्द का प्रयोग बहुत ही कम, वरंच नहीं के बराबर होता है।

हिंदी की कविता मे हमने दो ही कवित्त इससे युक्त पाए हैं, एक तो 'आप को न चाहै ताके बाप को न चाहिए', पर यह न तो किसी प्रतिष्ठित ग्रंथ का है, और न इसका आशय स्नेह-संबध है। किसी जले-भुने कवि ने कह मारा हो तो यह कोई नहीं कह सकता कि कविता में भी "आप" की पूछ है। दूसरी घनानंदजी की यह सवैया है— "आप ही तौ मन हेरि हर्‍यौ तिरछे करि नैनन नेह के चाव में" इत्यादि। पर यह भी निराशापूर्ण उपालंभ है। इससे हमारा यह कथन कोई

खंडन नहीं कर सकता कि प्रेम-समाज में "आप" का आदर नहीं है, तू ही प्यारा है।

संस्कृत और फारसी के कवि भी त्वं और तू के आगे भवान् और शुमा (तू का बहुवचन) का बहुत आदर नहीं करते। पर इससे आपको क्या मतलब ? आप अपनी हिंदी के 'आप' का पता लगाइए, और न लगै तो हम बतला देंगे। संस्कृत में एक आप्त शब्द है, जो सर्वथा माननीय ही अर्थ में आता है, यहाँ तक कि न्यायशास्त्र में प्रमाण-चतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) के अंतर्गत शाब्द-प्रमाण का लक्षण ही यह लिखा है कि 'आप्तोपदेशः शब्दः' अर्थात् आप्त पुरुष का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही प्रामाणिक होता है, वा यों समझ लो कि आप्त जन प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाण से सर्वथा प्रमाणित ही विषय को शब्द-बद्ध करते हैं। इससे जान पड़ता है कि जो सब प्रकार की विद्या, बुद्धि, सत्यभाषणादि सद्गुणों से संयुक्त हो वह आप्त है, और देवनागरी भाषा में आप्त शब्द सबके उच्चारण में सहजतया नहीं आ सकता। इससे उसे सरल करके आप बना लिया गया है, और मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के अत्यंत आदर का द्योतन करने में काम आता है। 'तुम बहुत अच्छे मनुष्य हो' और 'यह बड़े सज्जन हैं'— ऐसा कहने से सच्चे मित्र बनावट के शत्रु चाहे जैसे "पुलक प्रफुल्लित पूरित गाता" हो जायँ, पर व्यवहार-कुशल लोकाचारी पुरुष तभी अपना उचित सम्मान समझेंगे जब कहा

जाय कि-"-आपका क्या कहना है, आप तो बस सभी बातों में एक ही हैं" इत्यादि।

अब तो आप समझ गए होंगे कि आप कहाँ के हैं, कौन हैं, कैसे हैं। यदि इतने बड़े बात के बतगड़ से भी न समझे हों तो इस छोटे से कथन में हम क्या समझा सकेंगे कि 'आप' संस्कृत के आप्त शब्द का हिंदी रूपांतर है; और माननीय अर्थ के सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है जो सामने विद्यमान हों चाहे बातें करते हों, चाहे बात करनेवालों के द्वारा पूछे बताए जा रहे हों, अथवा दो वा अधिक जनों मे जिनकी चर्चा हो रही हो। कभी कभी उत्तम पुरुष के द्वारा भी इसका प्रयोग होता है, वहाँ भी शब्द और अर्थ वही रहता है; पर विशेषता यह रहती है कि एक तो सब कोई अपने मन से आपको (अपने तईं) आप ही (आप्त ही) समझा है, और विचार कर देखिए तो आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता या तद्रूपता कहीं लेने भी नहीं जाने पड़ती, पर बाह्य व्यवहार मे अपने को आप कहने से यदि अहंकार की गंध समझिए तो यों समझ ली-जिए कि जो काम अपने हाथ से किया जाता है, और जो बात अपनी समझ स्वीकार कर लेती है उसमें पूर्ण निश्चय अवश्य ही हो जाता है, और उसी के विदित करने को हम और आप तथा यह एवं वे कहते हैं कि "हम आप कर लेंगे" अर्थात् कोई संदेह नहीं है कि हमसे यह कार्य संपादित हो

जायगा "हम आप जानते हैं," अर्थात् दूसरे के बतलाने की आवश्यकता नहीं है; इत्यादि।

महाराष्ट्रीय भाषा के आपाजी भी उन्नीस बिस्वा आप्त और आर्य के मिलने से इस रूप में हो गए हैं, तथा कोई माने या न माने, पर हम मना सकने का साहस रखते हैं कि अरबी के अब्ब (पिता बोलने में अब्बा) और यूरोपीय भाषाओं के पापा (पिता), पोप (धर्म-पिता) आदि भी इसी आप से निकले हैं। हाँ, इसके समझने-समझाने में भा जी ऊबे तो अँगरेजी के एबाट (Abot महंत) तो इसके हई है, क्योंकि उस बोली में ह्रस्व और दीर्घ दोनो आकार का स्थानापन्न A है, और "पकार" को "बकार" से बदल लेना कई भाषाओं को चाल है। रही टी (T) सो वह तो "तकार" हई है। फिर क्या न मान लीजिएगा कि एबाट साहब हमारे (आप) वरंच शुद्ध आप्त से बने हैं!

हमारे प्रात में बहुत से उच्च वंश के बालक भी अपने पिता को अप्पा कहते है, उसे कोई कोई लोग समझते हैं कि मुसलमानो के सहवास का फल है, पर यह उनकी समझ ठीक नही है। मुसलमान भाइयों के लड़के कहते हैं अब्बा, और हिंदू संतान के पक्ष में 'बकार' का उच्चारण तनिक भी कठिन नही होता, यह अँगरेजों की तकार और फ़ारसवालों की टकार नही है कि मुँह ही से न निकले और सदा मोती का मोटी अर्थात् स्थूलांगा स्त्री और खस की टट्टी का तत्ती अर्थात् गरम

ही हो जाय, फिर अब्बा को अप्पा कहना किस नियम से होगा। हाँ, आप्त से आप और अप्पा तथा आपा की सृष्टि हुई है, उसी को अरबवालों ने अब्बा में रूपांतरित कर लिया होगा, क्योंकि उनकी वर्णमाला में "पकार" (पे) नहीं होता, सौ बिस्वा बप्पा, बाप, बापू, बब्बा बावा, बाबू आदि भी इसी से निकले हैं, क्योंकि जैसे एशिया की कई बोलियों में 'पकार' को 'बकार' व फकार से बदल लेते हैं, जैसे पादशाह-बादशाद और पारसी-फारसी आदि, वैसे ही कई भाषाओं में शब्द के आदि में 'बकार' भी मिला देते हैं, जैसे वक्ते शब—बवक्ते शब तथा तंग आमद—बतंगआमद इत्यादि, और शब्द के आदि के ह्रस्व अकार का लोप भी हो जाता है, जैसे अमा-वस का मावस (सतसई आदि ग्रंथो में देखो) ह्रस्व अका-रांत शब्दों मे अकार के बदले ह्रस्व वा दीर्घ उकार भी हो जाता है, जैसे एक-एकु स्वाद-स्वादु आदि, अथच ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व अ, ", उ, आदि की वृद्धि वा लोप भी हुआ ही करता है, फिर हम क्यो न कहे कि जिन शब्दो में अकार और पकार का संपर्क हो, एवं अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निक-लती हो वह प्रायः समस्त संसार के शब्द हमारे आप्त महाशय या आप ही के उलटफेर से बने हैं।

अब तो आप समझ गए न, कि आप क्या है? अब भी न समझे तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं। हाँ, आप ही को उचित होगा कि दमड़ी छदाम

की समझ किसी पंसारी के यहाँ से मोल ले आइए, फिर आप ही समझने लगिएगा कि आप "को हैं ? कहाँ के हैं ? कौन के हैं ?" यदि यह भी न हो सके, और लेख पढ़ के आपे से बाहर हो जाइए तो हमारा क्या अपराध है ? हम केवल जी मे कह लेंगे "शाव !-आप न समझो तो आपॉको के पड़ी छै' एँ ! अब भी नही समझे ? वाह रे आप !

प्रकृति-सौंदर्य

[पंडित गणपति जानकीराम दूबे]

हरिणचरणक्षुण्णोपांता सशाद्वलनिर्झराः,
कुसुमकलितैर्विष्वग्वातैस्तरंगितपादपाः।
विविधविहगश्रेणीचित्रस्वनप्रतिनादिता
मनसि न मुदं दध्युः केषां शिवा वनभूमयः ॥

—सुभाषित।

भावार्थ—जहाँ हरी हरी दूब का गलीचा सा बिछा है, जिस पर हिरनों के खुरों के चिन्ह चिन्हित हैं, निकट ही सुंदर झरने बह रहे हैं, कमनीय कुसुमों के मधुर सुगंध से सुगंधमय पवन वह रही है और तरुवर हिल रहे है, उनपर तरह तरह के विहगम अपनी तरह तरह की मंजुल ध्वनि से संपूर्ण प्रदेश को प्रतिनादित कर रहे हैं, ऐसी परम रमणीय वनस्थली किसके मनको आनंदित न करेगी ?

प्रकृति की सुषमा सचमुच सुंदर है परंतु उसे समझने की शक्ति थोड़े ही लोगों में होती है।

प्रचंड ऊर्मिमय गंभीरघोषी महासागर का प्रथम दर्शन

करने, निर्जन और घोर अरण्य में—जहाँ चिड़ियाँ पंख नहीं मारतीं—प्रथम ही प्रवास करने, पृथ्वी के ऊँचे पहाड़ों की चोटियों के स्फोट के कारण महाभयंकर ज्वालामुखी के डरावने मुख से पृथ्वी के पेट से वह निकले हुए पत्थर, मिट्टी, धातु इत्यादि पदार्थों के रस के प्रवाह को प्रथम ही देखने अथवा नितांत शीत के कारण बर्फ से ढँके हुए स्फटिकमय प्रदेश में चलने से जो नया और अपूर्व अनुभव प्राप्त होता है उसका कुछ अकथनीय संस्कार मन पर होता है। ये चमत्कारमयी प्राकृतिक घटनाएँ मानो प्रकृतिदेवी की लीलाएँ हैं। इनके देखनेवाले को ऐसा मालूम होता है कि मानो वह किसी नए जगत् में खड़ा है और उसकी कल्पना और वर्णन-शक्ति स्तंभित हो गई है।

प्रकृति के सौंदर्य को समझने के पूर्व हमें उसे देखने का अभ्यास करना चाहिए। प्रकृति की तरफ ध्यान न देने की अपेक्षा उसे देखना सहज है और जिस वस्तु की ओर मनुष्य देखे उसके रहस्य को जान लेना तो मनुष्य का स्वभाव ही है। सौंदर्य-शास्त्र का ज्ञाता रस्किन लिखता है—"हमारी जीवात्मा इस भूमि पर एक काम सर्वदा किया करती है—अर्थात् प्रकृति-निरीक्षण, और जो कुछ वह देखती है उसका वर्णन करती है।" ज्ञानवान् मनुष्य की आँखें हमारी आँखों से कुछ भिन्न नहीं हैं, परंतु हमें जो नहीं दिखाई देता वह उसे दिखाई देता है। कहा भी है—

वदन, श्रवण, दृग, नासिका सब ही के इक ठौर।
कहिबो, सुनिबो, देखिबो चतुरन को कछु और॥

जो कोई ध्यानपूर्वक देखने का अभ्यास करेगा उसे वर्षा-ऋतु में हर घड़ी एक नया दृश्य दिखाई देगा। खेत में या जंगल में खड़े होकर देखने में अपूर्व वन-शोभा दिखाई पड़ती है। आकाश घड़ी घड़ी रंग बदलकर अपनी निर्मल शोभा और घनों की घटा की छाया भूमि पर डालता हुआ दिखाई देगा।

प्राकृतिक सौंदर्य को देख आनंदित होना मन का एक उत्तम गुण है। इस गुण का बीज यदि हम नष्ट कर देंगे तो हमारे चरित्र पर उसका अनिष्टकारक परिणाम होगा। इसलिये जिसे प्रकृति की सुंदरता देखकर आह्लाद नहीं होता उसका दुर्जन होना साधारण बात है किंतु प्राकृतिक सौंदर्य से प्रेम रखनेवाला मनुष्य हंसमुख, आनंदी और प्रसन्नचित्त होता है इसमें संदेह नहीं।

विकसितसहकारभारहारि-परिमल-पुंजित-गुंजित-द्विरेफः।
नव-किसलय-चारु-चामर श्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसंतः॥

भाव—आम्र मंजरी की सुगंध के चारों ओर फैल जाने से भृंगवृंद गुंजार करते हुए उन पर मोहित हो जाते हैं वृक्षों के नवीन कोमल पत्ते फूटकर सुंदर चंवर की भाँति सुहाते हैं, ऐसे वसंत की सोभा मुनिजनों के भी मन को हर लेती है, फिर मनुष्य का कहना ही क्या है?

"कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में,

क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है ।
कहै पद्माकर पराग हू में पौन हू में,
पाँतिन में पीकन पलाशन पगंत है ॥
द्वार में दिशान में दुनी में देश देशन में,
देखो द्वीप द्वीपन मे दीपति दिगंत है ।
वीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगरयो बसंत है ॥

यह वसंत-वर्णन अद्वितीय है। अपने प्राचीन कवियों के सृष्टि-चमत्कारों के वर्णन जहाँ-तहाँ ऋतु वर्णन के रूप में देखने से उनकी प्रकृति के सूक्ष्म अवलोकन की शक्ति का परिचय मिलता है।

फूलों को कवि प्रथम स्थान देते है। सचमुच वनश्री का दृश्य कल्पना के सम्मुख आते ही प्रथम फूलो का दर्शन होता है। ऐसा जान पड़ता है कि पुष्पों को प्रकृति देवी ने मनुष्य-जाति के ही सुख के लिये बनाया है। बालक फूलों पर बहुत प्रीति करते हैं। सुंदर और शांतिमय आनंद देनेवाले फूलों पर बागवान, कृपक ऐसे गरीब लोग भी प्रीति करते हैं। ऐश आराम में पड़े हुए विषयी लोग फूल तोड़कर अपने उपभोग में लाते हैं। नागरिको और ग्रामीणों की फूलों पर एक सी प्रीति होती है।

हर एक ऋतु के फूल अलग अलग होते हैं। फूलों के

उद्भव का समय वसंत, ग्रीष्म और शरद् ऋतु है, तथापि जंगलों में, पहाड़ों में, वनस्थली में, समुद्र-तीर पर सर्व काल में भाँति भाँति के पुष्प खिलते रहते हैं।

कुसुम-दर्शन से केवल नयनों को ही सुख नहो होता उनसे ज्ञान और उपदेश प्राप्त करनेवाले के लिये उपदेश भी मिल सकता है। पुष्पों के मनोहर रंग और विचित्र आकृतियों को देख ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी विशेष और वड़े उद्देश्य के लिये ईश्वर ने उन्हें वनाया है।

फूलों के समान वृक्ष और लताएँ भी वड़ी रमणीय मालूम होतों है। वे प्राकृतिक दृश्य के सौंदर्य के पोषक है। वड़े वड़े वृक्षो में छोटे पुष्प लगते हैं और छोटे वृक्षो और वन-लताओं में वड़े फूल आते है। उनकी शोभा निराली है। वृक्षों की पल्लव श्री सदा सर्वकाल मे अपनी प्रशांत शोभा वनाए रखती है और हर एक वृक्ष एक सुंदर चित्र सा वना रहता है।

शीत प्रदेश के वन ग्रीष्म ऋतु के दिनो में वहुत शोभाय मान दिखाई पड़ते है, परंतु जाड़े के दिनो में जव वर्फ पड़ती है, तव वृक्षो के पत्ते झड़ जाते हैं और पल्लव-रहित शाखाओं पर वर्फ का मुलम्मा चढ़ जाता है। वह दृश्य अपने ढंग का निराला होता है। उष्ण प्रदेशो के अरण्यो की और जंगलों की शोभा इससे वहुत भिन्न होती है। वहाँ वृक्ष सीधे, ऊँचे गगनचुंवी दिखाई पड़ते है। नीचे कुछ दूर तक एक वड़ा सरल स्कंध होता है। उसके आसपास का भाग सघन छायाके

कारण अत्यंत शीतल और रम्य दिखाई देता है। ऊपर घनी शाखाओं का जाल मेघाडंबर के समान फैला होता है। इन सघन जंगलों में रविकिरणों की अगवानी करने की इच्छा से मानों सब कुछ ऊपर ही को चढ़ता हुआ दिखाई देता है। कुछ जानवर वृक्षों पर चढ़ जाते हैं। पक्षी तो तरुवरों के शिखरो की ऊँची से ऊँची डालियों पर बैठे चहक चहक कर मधुर गीत गाया ही करते हैं। साँप, अजगर से रेंगनेवाले प्राणी भी ऊपर चढ़ जाते हैं। बेल और लताएँ तो वृक्षों से लिपटती हुई मानों प्रेमालिंगन का सुख उठा रही हैं और ऊपर तक बढ़ी चली जाती हैं। इनकी इतनी अधिक जातियाँ उष्ण प्रदेशों में होती हैं जितनी अन्य देशों में देखने में नहीं आतीं। दक्षिण के अरण्यों का वर्णन जो महाकवि भवभूति ने किया है वह उष्ण प्रदेशों की वन-शोभा का उत्तम दर्शक है।

ये गिरि सोय जहाँ मधुरी मदमत्त मयूरनि की धुनि छाई।
या वन में कमनीय मृगानि की लोल कलोलनि डोलति भाई॥
सोहैं सरित्तट धारि घनी जलवृक्षन की नवनील निकाई।
मंजुल मंजु लतानि की चारु चुभीली जहाँ सुखमा सरसाई॥

लसत सघन श्यामल विपिन, जहँ हरषावत अंग।
करि कलोल कलरव करत, नाना भाँति विहंग॥
फल-भारन सों झालरे, हरे वृक्ष झुकि जाहिं।
झिलिमिलाति झाँईं सुतिन, गोदावरि जल माहिं॥
जहाँ बाँस-पुंज कंज कलित कुटीर माहि

घोरत उलूक भीर घोर घुघियायकैं।
तासु धुनि-प्रतिधुनि सुनि काककुल मूक
भय-वस लेत ना उड़ान कहुँ धायकैं ॥
इत-उत डोलत सु बोलत है मोर, तिन
सोर सन सरप दरप विसरायकैं।
परम पुरान सिरीखंड-तरु-कोटर में
मारत स्वकुंडली सिकुरि घबरायकैं ॥
जिन कुहरनि गदगद नदति, गोदावरि की धार।
शिखर श्याम घन सजल सों, ते दक्खिनो पहार ॥
करत कुलाहल दूरि सो, चंचल उठत उतंग।
एक दूसरी सों जहाँ, खाइ चपेट तरंग ॥
अति अगाध विलसत सलिल, छटा अटल अभिराम।
मनभावन पावन परम, ते सरि संगम धाम ॥

—उत्तररामचरित

कितनी ही जंगली जातियाँ वृक्षों को देवता मानकर पूजती हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नही है, क्योंकि जब हम अकेले अरण्यों में जाते हैं तब यदि कोई एक वृक्ष हमसे वार्तालाप करने लगे तो हमें उसका कुतूहल होगा और आनंद भी होगा। दिन के समय किसी घोरतर अरण्य में जाने से एक तरह का भय भी मालूम होता है।

जहाँ तरुपल्लवश्रो का साम्राज्य है वहाँ पानी का स्थल अवश्य ही निकट होता है। नदी, सरोवर, निर्झर इत्यादि

जहाँ होते हैं वहाँ की वनज सुंदरता अत्यंत गंभीर होती है। मेघमंडल में घन उमड़कर नीलाकाश की शोभा बढ़ाते हैं। प्रातःकाल के अंधकारमय कुहरे में सरोवर और नदियों का निर्मल जल स्फटिक के समान चमकीला दिखाई पड़ता है। पानी उद्भिद् जगत् का जीवन है। पानी के आधार पर बड़े बड़े मैदान हरे भरे दिखाई देते हैं। पानी के नित्य प्रवाह से नर्मदा नदी के काटे हुए जो संगमर्मर के बड़े बड़े पर्वत और पत्थर जबलपुर जिले में भेड़ाघाट के पास खड़े हैं उनसे अद्वितीय दृश्य और प्रकृति की कार्य-कुशलता का परिचय मिलता है—

महानदी का दर्शन तथा विस्तीर्ण सरोवर का अवलोकन थके हुए पांथ को विश्राम देता है। जलाशय में अवगाहन अत्यंत श्रमहारक और तापनिवारक है। जलागार के सुख का वर्णन महाकवि कालिदास ने बहुत ही मनोहर किया है—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्ग-सुरभि-वनवाताः।
प्रच्छाय सुलभनिद्रां दिवसाः परिणामरमणीयाः॥

भाव—सुंदर, स्वच्छ और गहरे जलाशय में मनमाना डूब डूबकर नहाना सुख देता है। वनोपवनों में से पाटल पुष्पों की सुगंधि से भरी मंद, शीतल पवन आनंद देती है। गहरी छाया में नींद तुरंत आ जाती है और सायंकाल का समय नितांत रमणीय होता है। ऐसे ग्रीष्म काल के दिन होते हैं।

समुद्रयात्रा करनेवालों को समुद्र बड़ा प्रिय मालूम होता है। आकाश की अपेक्षा समुद्र अधिक स्वाधीन और ऐश्वर्यशाली है। समुद्र का किनारा अनंत जीवों से तथा वनस्पति से भरा होता है। उनमें से कितने ही प्राणी ज्वारभाटे की राह देखते रहते हैं और कितने ही ऐसे होते हैं जिन्हें समुद्र की लहरों ने समुद्र से बाहर जोर से निकालकर फेंक दिया है। समुद्र-तट पर खड़े रहने से समुद्र के निकट रहनेवाले पक्षियों का कर्णविदारी भयकारी शब्द सुनाई देता है। समुद्र की वायु का स्पर्श होते ही शरीर में फुरती पैदा होती है और काम करने की इच्छा हो आती है।

समुद्र का स्वरूप सदा बदलता रहता है। प्रातःकाल से सायंकाल तक उसमें कितने ही उलट-फेर हो जाते हैं। कल्पना कीजिए कि हमारा निवास समुद्र-तट पर है और हम अपने मकान की खिड़की में बैठे नीचे देख रहे हैं। खिड़की के नीचे ही छोटा मैदान है और उसके आगे पृथ्वी नीची होती चली गई है, सामने कोसों की दूरी तक पीली रेत के सुंदर टीले चले गए हैं। इधर भगवान् मरीचिमाली उदित होकर अपनी झिलमिलाती हुई किरणों से समुद्र के विस्तीर्ण प्रदेश को प्रकाशित कर रहे हैं। जैसे जैसे सूर्यनारायण ऊपर आते जाते हैं, समुद्र प्रदेश प्रकाशित होता जाता है। दूर के उन्नत भाग कुहरे के घन-पटल से ढँक जाते हैं। लगभग नौ बजे के समय समुद्र का रंग फीका होने लगता है। आकाश नीले रंग का

होने लगता है और जहाँ-तहाँ धुनी हुई स्वच्छ रूई के गालों की तरह फैले हुए बादल दिखाई देते हैं। सामने के पथरीले प्रदेश की तराई में खेत, जंगल, पत्थरों की कानें और पत्तें दिखाई देती हैं। टूटी फूटी चट्टानें विचित्र ढंग दिखाती हैं। जहाँ प्रकाश नहीं पड़ता वहाँ का भाग श्यामल छाया में धुँधला दिखाई पड़ता है। दोपहर के समय समुद्र अपना रंग बदल लेता है। वह बिलकुल गहरा नीलांबर पहने दिखाई देता है और सामने के द्वीप में छायामय अरण्य, हरी दूब से भरे मैदान और पीले रंग के खेत साफ देखने में आते हैं। टूटी चट्टानों के भाग भी स्पष्ट झलकते हैं और मछुओं की डोंगियाँ और काले पाल दृष्टिगोचर होते हैं।

समुद्र का यह स्वरूप बहुत समय तक नहीं टिकता। अचानक आकाश में बादल छा जाते हैं। हवा जोर से बहने लगती है और तूफान के चिन्ह दिखाई देते हैं। वृक्षों के पत्तों पर गिरती हुई पानी की बूँदों की टप टप आवाज सुनाई देती है और सामने का किनारा मानो तूफान के भय से छिपा जाता है। देखते देखते समुद्र का रंग काला हो जाता है। वह खौलता हुआ गभीर गर्जन करता है। जब वह शांत हो जाता है तब फिर घननील कलेवर धारण करता है और सूर्य के अस्त होने के पूर्व उस पर धुँधलापन छा जाता है। पर अस्तभानु के समय फिर एक नई सुनहरी छटा से उज्ज्वल और चमकीला बन जाता है। इस प्रकार समुद्र के रंग दिन भर बदलते ही रहते हैं।

समुद्र की शोभा में रात्रि के समय भी भाँति भाँति के परिवर्तन होते रहते हैं। कभी घना अंधेरा छा जाता है, कभी अनंत तारागणों से शोभित अकाश के सामने वह प्रशांत दर्पण की नाईं स्थिर दिखाई देता है; कभी चंद्र की सुंदर चाँदनी में सारा विश्व धुलकर धवल और शीतल बन जाता है।

कभी तूफान के समय आकाश में इंद्रधनुष दिखाई देता है। इस इंद्रधनुष के अत्यंत सुंदर और प्राकृतिक रंगों के मेल को देख नेत्र सुखी हो जाते हैं। यह एक अद्वितीय वस्तु है। जिस रँगरेज ने इंद्रधनुष के रंग को रँगा है वह कोई अद्वितीय कारीगर है।

रंगों के ज्ञान का महत्व भली भाँति हमारी समझ में नहीं आता। यदि रंग का ज्ञान होता तो छाया, आकार, प्रकाश इत्यादि की सहायता से जुदे जुदे पदार्थों की पहचान कठिन हो जाती। तथापि जिस समय हम अपने आपसे यह प्रश्न करते हैं कि सौंदर्य्य क्या वस्तु है, तो तुरंत ही सहज रीति से हमारे मन मे भिन्न भिन्न रंगो के पत्ती, चिड़ियाँ, कीट, पतंग, पुष्प, रत्न, आकाश, इंद्रधनुष इत्यादि चमत्कारिक पदार्थों की कल्पना होती है।

प्रकृति देवी ने हमें जो ज्ञानेंद्रियाँ दी हैं यह उसकी हम पर बड़ी कृपा है, बड़ा उपकार है। कान न होते और श्रवण की शक्ति न होती तो संसार का सुस्वर संगीत, प्रेमीजनों का

मधुर वार्तालाप और वाद्यों की मनोहर ध्वनि हमारे लिये कुछ नहीं थी। हमारे नेत्रों की रचना में एक तिल भर फर्क हो जाता तो इस विशाल विश्व का वैभव, पदार्थों के सुंदर आकार, रंगो की चमक-दमक, प्रकृति की वन-शोभा; पर्वत, नदी, सरोवर इत्यादि के प्राकृतिक दृश्य देखने से हम वंचित रह जाते। रसनेंद्रिय के अभाव से सुंदर सुस्वादु खाद्य पदार्थ हमारे लिये नष्ट हो जाते—इस प्रकार प्रकृति के संपादित किए हुए संपूर्ण सुख-साधनों का उपभोग हमे कदाचित् न मिलता।

सौंदर्योपासक रस्किन ने लिखा है कि पर्वतो की ओर देखते ही मालूम होता है कि उन्हें ईश्वर ने केवल मनुष्य ही के लिये रचा है। पर्वत मनुष्यो की शिक्षा के विद्यालय, भक्ति के मंदिर, ज्ञान की पिपासा तृप्त करने के लिये ज्ञाननिर्झरो से पूर्ण, ध्यानस्थ होने के लिये प्रशांत और निर्जन मठ तथा ईश्वराराधन के लिये पवित्र देवालय हैं। इन प्रकांड देवालयों में चट्टानो के द्वार, मेघो के फर्श, ऊँचे गिरिशिखरो से गिरते हुए जलप्रपातों की गर्जना का संकीर्तन, बर्फ के ढेरो से बनी हुई यज्ञ-वेदियाँ और स्थंडिल तथा अनंत तारकपुंजों से विशोभित नीले आकाश का शामियाना है।

है विश्वमंदिर विशाल सुरम्य सारा।
अत्यंत चित्तहर निर्मित ईश द्वारा॥
जो लोग प्रेक्षक यहाँ पर आ गये हैं।

गंभीर विश्व लख विस्मित वे हुए हैं ॥

—कुसुमांजलि

आकाश की सुंदरता मन को मुग्ध कर देती है। जिस समय मन उदास हो और उद्विग्न हो उस समय अपने मन को प्रसन्न करने के लिये सुंदर विशाल आकाश-मंडल की ओर देखो। यदि दोपहर का समय है तो आकाश के नील मंडप में इतस्तत: फैले हुए बादल उसे विचित्र बनाते हैं। प्रातःकाल और सायंकाल के समय के आकाश का दर्शन तो सर्वदा ही अवलोकनीय होता है। रात्रि का समय है तो आकाश के ऐश्वर्य का कहना ही क्या है! वह तेजस्वी तारागणों से भरा मानों रत्नों से भरे थाल की भाँति दिखाई देता। नक्षत्रों का नियमित अस्तोदय, उनका भ्रमण, उनकी गति इत्यादि देखकर कुतूहल होता है और ईश्वर की अनंतता और विश्व-निर्माण-शक्ति देखकर उसके विषय में पूज्य भाव पैदा होता है। जब हम तारों की ओर देखते हैं तो वे हमें स्थिर और शांत दिखाई देते हैं परंतु वे उस समय कल्पनातीत वेग से यात्रा करते रहते हैं। यह चमत्कार स्वप्न में भी हमारी समझ में नही आता।

संपूर्ण आकाश-मंडल में दस करोड़ से भी अधिक तारे हैं। सिवाय इसके कितने ही ग्रहो के उपग्रह भी हैं। इतना ही नहीं किंतु जिनका अब तेज नष्ट हो गया है ऐसे अनेक

गोले आकाश में हैं। वे अपने समय में सूर्य के समान प्रकाशमान थे, परंतु अब तेजहीन और शीतल हो गए हैं। एक वैज्ञानिक कहता है कि हमारा सूर्य भी लगभग एक करोड़ सत्तर बरस के बाद वैसा ही तेजहीन हो जायगा। धूमकेतु अर्थात् पुच्छल तारे भी आकाश में हैं। उनमें से थोड़े ही दूरबीन के बिना दिखाई पड़ सकते हैं। इनको छोड़ आकाश में भ्रमण करनेवाले अनंत तारापुंज हैं जो हमारी दृष्टि से बाहर हैं।

तारों की अनंत संख्या को देख मनुष्य कुंठित हो जाता है। फिर उनके विशाल आकार और एक दूसरे की दूरी का ज्ञान होने पर उसका क्या हाल होता है, इसका पूछना ही क्या है। समुद्र अत्यंत विस्तृत और गहरा है और उसे असीम कहने की प्रथा है। परंतु आकाश से यदि समुद्र की तुलना की जाय तो समुद्र क्षुद्र प्रतीत होता है। महाकाय बृहस्पति और शनि की तुलना पृथ्वी से कीजिए तो पृथ्वी बिलकुल छोटी मालूम होगी और सूर्य से उन दो ग्रहों का साम्य किया जाय तो सूर्य के सामने वे बिल्कुल छोटे दिखाई देंगे। सपूर्ण सूर्यमाला से यदि अपने नित्य के सूर्य की तुलना की जाय तो वह कुछ भी नही है। सिरियस नामक एक ग्रह इस सूर्य से भी हजारों गुना विशाल और लाखों कोस दूर है। यह सूर्यमाला आकाश के एक छोटे से प्रदेश में घूमती रहती है। इस सूर्यमाला के चारों ओर दूसरी ऐसी ही बड़ी बड़ी ग्रहमालाएँ भ्रमण कर रही

हैं। नक्षत्रों में कितने ही इतनी दूरी पर हैं कि प्रकाश की गति एक सेकंड में एक लाख अस्सी हजार मील होने पर भी उनका प्रकाश हमारी पृथ्वी तक पहुँचने के लिये वरसों का समय लगता है। इन नक्षत्रों के परे और भी न जाने कितने तारे हैं परंतु वे अत्यंत दूर हैं, इस कारण नजर नहीं आते। दूरबीन से देखने पर भी वे कुहरे की तरह धुँधले दिखाई पड़ते हैं यद्यपि वैज्ञानिकों ने विश्व की अनंतता में घुसकर वहुत कुछ चमत्कारों का पता लगाया है परंतु उसका पार नहीं पाया है। ये चमत्कार चित्त को हरनेवाले और मनुष्य के आनंद-प्रवाह के नित्य वहनेवाले झरने हैं। इसलिये इन चमत्कारों के अनुभव से संसार के क्षुद्र दुःख और बाधाओं की परवा नहीं करनी चाहिए।

समाज और साहित्य

[बाबू श्यामसुंदरदास]

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छानबीन करते जाइए, उतनी ही नई नई शृंखलाएँ विचित्रता की मिलती जायँगी। कहाँ एक छोटा सा बीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष। दोनों में कितना अंतर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ संबंध। तनिक सोचिए तो सही, एक छोटे से बीज के गर्भ में क्या क्या भरा हुआ है। उस नाम मात्र के पदार्थ में एक बड़े से बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है जो समय पाकर पत्र, पुष्प, फल से संपन्न हो वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है, जैसे बीज से उसकी स्वयं उत्पत्ति हुई थी। सब बातें विचित्र, आश्चर्यजनक और कौतूहल-वर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं। सब अपने अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते और अंत में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते हैं; पर वही उनकी समाप्ति नहीं है, वहीं उनका अंत

नहीं है । वे सृष्टि के कार्य-साधन में निरंतर तत्पर हैं । मरकर भी वे सृष्टि-निर्माण मे योग देते है । योंही वे जीते मरते चले जाते हैं । इन्हीं सब बातों की जाँच विकासवाद का विषय है । यह शास्त्र हमको इस बात की छानबीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातो की सूक्ष्माति-सूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम क्रम से उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी सकुलता बढ़ती गई । जैसे ससार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के सबध में विकासवाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते है वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं । यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमे विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य व जंगली अवस्था में थे । सृष्टि के आदि में सब आरभिक जीव समान ही थे, पर सबने एकसी उन्नति न की । प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसकी जिस विषय की ओर विशेष प्रवृत्ति रही उस पर उसी की उत्तेजना का अधिक प्रभाव पड़ा । अत में प्रकृति देवी ने जैसा कार्य देखा वैसा ही फल भी दिया । जिसने जिस अवयव से कार्य लिया उसके उसी अवयव की पुष्टि और वृद्धि हुई । सारांश यह है कि आवश्यकतानुसार उनके रहन सहन, भाव-विचार सब मे परिवर्तन हो चला । जो सामाजिक जीवन पहले था वह अब न रहा । अब उसका रूप ही बदल गया । अब नए विधान आ उपस्थित हुए । नई आवश्यक-

ताओं ने नई चीजों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिये कष्ट देना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है। अर्थात् ज्यों ज्यों सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी संकुलता होती गई त्यों त्यों सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन मे उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ साथ दूसरों के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है उतनी ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति बिना मस्तिष्क के विकास के नही हो सकती, अथवा यह कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति और मस्तिष्क का विकास साथ ही साथ होते हैं। एक दूसरे का अन्योन्याश्रय-संबंध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असंभव है। मस्तिष्क के विकास में साहित्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति बाह्य पंचभूतों के कार्यरूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है, वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना बिगड़ना साहित्य की

अनुकूलता पर अवलंबित है, अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिये जो भाव-सामग्री निकालकर समाज को सौंपता है उसके संचित भांडार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या उसका सभ्यता-निर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिंब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट बता सकते है कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है; वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डंडे तक चढ़ सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति को संरक्षित रखना है। पहले पहल अद्भुत बातों के देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं उन्हें वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे धीरे युद्धों के वर्णन, अद्भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकांड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी रूप में उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग हो जाती है। एक विचार को सुन या पढ़कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक शृंखला हो जाती है जिससे साहित्य के विशेष विशेष अंगों की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके

विकास और वृद्धि में सहायता पहुँचाने के लिये साहित्यरूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार का यह भोजन होगा वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी। जैसे शरीर की स्थिति और वृद्धि के अनुकूल आहार की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिये साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारों में प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिये निरंतर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहनेवाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों के सोचने और उन्हीं का अवलंबन करने में बीत जाता है। अतएव क्रम क्रम से उन्हें सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है, और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। जहाँ इसके प्रतिकूल अवस्था है वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने का सब समान प्रस्तुत कर दिया तब फिर उसकी चिंता ही कहाँ रह जाती है। भारत-भूमि को प्रकृति-देवी का प्रिय और प्रकांड क्रीड़ाक्षेत्र समझना चाहिए। यहाँ सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इनकी चिंता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सांसारिक बातों से जीव जीवात्मा और

परमात्मा की ओर लग जाता है अथवा विलासप्रियता में फँस कर इंद्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहाँ का साहित्य धार्मिक विचारों या शृंगाररस के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते है तो हमें यह भली भाँति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यो की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म-संबंधी शक्ति पोप के हाथ में आ गई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्तमान काल का सूत्रपात किया, यूरोपीय मस्तिष्क स्वतंत्रतादेवी को आराधना में रत हुआ, तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय कार्य-क्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नही जानता कि फ्रांस की राज्य-क्रांति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेजिनी के लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिंता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा।

जब तब उसमें अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई, नए विचारो नई संस्थाओ की सृष्टि हुई। बौद्ध धर्म और आर्य-समाज का प्रावल्य और प्रचार ऐसो ही स्थिति के बीच हुआ। इसलाम और हिंदू-धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए तब दोनो में से कूप-मंडूकता का भाव निकालने के लिये कबीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन की सामाजिक उन्नति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट-फेर हुए है, जिसने यूरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य-समाज का हितविधायक मित्र है वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नही दे सकता? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नही हो सकता? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर है तब हमारा उसका प्रकृति-संयोग ही नहीं हो सकता।

अब तक वह जो हमारा सहायक नही हो सका है इसके दो मुख्य कारण है। एक तो इस विस्तृत देश की स्थिति एकांत रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक विभव का वारापार नही है। इन्ही कारणों से इसमें संघ-शक्ति का संचार जैसा चाहिए वैसा नही हो सका और यह अब तक आलसी तथा

सुख-लोलुप बना हुआ है। परंतु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है। यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित, प्रतिक्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय बात है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके। मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेषकर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मानोवेगों का परिष्कार करनेवाला, सजीवनी शक्ति का सचार करनेवाला, चरित्र को सुंदर साँचे में ढालनेवाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करनेवाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिंदी-भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है। पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं। यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े

ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा जिससे जनसमुदाय की आँखे खुलेगी और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

मैं थोड़ी देर के लिये आपका ध्यान हिंदी के गद्य और पद्य की ओर दिलाना चाहता हूँ। यद्यपि भाषा के दोनों अंगों की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा है पर दोनो की गति समान रूप से व्यवस्थित नहीं दिखाई देती। गद्य का रूप अब एक प्रकार से स्थिर हो चुका है। उसमें जो कुछ व्यतिक्रम या व्याघात दिखाई पड़ जाता है वह अधिकांश अवस्थाओं में मतभेद के कारण नहीं बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात वा व्यतिक्रम प्रांतिक शब्दों के प्रयोग, व्याकरण के नियमों के उल्लघन आदि के रूप मे ही अधिकतर दिखाई पड़ते हैं। इनके लिये कोई मत-संबंधी विवाद नही उठ सकता। इनके निवारण के लिये केवल समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है। इस कार्य मे केवल व्यक्तिगत कारणो से समालोचको को दो पक्षों में नहो बाँटना चाहिए।

गद्य के विषय में इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोड़ा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। इसमें कोई मतभेद नही कि जो हिंदी गद्य के लिये ग्रहण की गई है वह दिल्ली और मेरठ प्रांत की है।

यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली के प्रांत की है पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण उसका विस्तार

और प्रांतों में भी हो गया है। अतः वह उन प्रांतों के शब्दों का भी, अभाव-पूर्ति के निमित्त, अपने में समावेश करेगी। यदि उसके जन्मस्थान में किसी वस्तु का भाव व्यंजित करने के लिये कोई शब्द नहीं है तो वह दूसरे प्रांत से, जहाँ उसका शिष्ट समाज या साहित्य में प्रवेश है, शब्द ले सकती है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि यह केवल अन्य स्थानों के शब्दमात्र अपने में मिला सकती है, प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिए। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने अंतःकरण में भावों की अनेकरूपता का विकास करे।

ये भाव साधारण भी होते हैं और जटिल भी। अतः जो लेख साधारण भावों को प्रकट करता है, वह साधारण ही कहलावेगा, चाहे उसमें सारे संस्कृत कोशों को ढूँढ़ ढूँढ़ कर शब्द रखे गए हों, और चार चार अंगुल के समास बिछाए गए हों; पर जो लेख ऐसे जटिल भावों को प्रकट करेंगे, जो अपरिचित होने के कारण अंतःकरण में जल्दी न धँसेंगे, वे उच्च कहलावेंगे, चाहे उनमें बोलचाल के साधारण शब्द ही क्यों न भरे हों। ऐसे ही लेख, जो नए नए भावों का विकास करने में समर्थ हों, जो जीवन-क्रम को उलटने-पलटने की क्षमता रखते हों सच्चा साहित्य कहला सकते हैं। अतः लेखकों को अब इस युग मे बाण और दंडी होने की आकांक्षा उतनी न करनी चाहिए जितनी वाल्मीकि और व्यास होने की, बर्क, कारलाइल और रस्किन होने की।

कविता का प्रवाह आजकल दो मुख्य धाराओं में विभक्त हो गया है। खड़ी बोली की कविता का आरंभ थोड़े ही दिनों से हुआ है। अतः अभी उसमें उतनी शक्ति और सरसता नहीं आई है पर आशा है कि उचित पथ के अवलंबन द्वारा वह धीरे धीरे आ जायगी। खड़ी बोली में जो अधिकांश कविताएँ और पुस्तकें लिखी जाती हैं वे इस बात का ध्यान रखकर नहीं लिखी जाती कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा में भेद होता है। कविता की शब्दावली कुछ विशेष ढंग की होती है। उसके वाक्यों का रूप रंग कुछ निराला है। किसी साधारण गद्य को नाना छंदों में ढाल देने से ही उसे काव्य का रूप नहीं प्राप्त हो जायगा। अतः कविता की जो सरस और मधुर शब्दावली व्रजभाषा में चली आ रही है उसका बहुत कुछ अंश खड़ी बोली में रखना पड़ेगा। भाव-वैलक्षण्य के संबंध में जो बातें गद्य के प्रसंग में कही जा चुकी हैं वे कविता के विषय में भी ठीक घटती हैं। बिना भाव की कविता ही क्या? खड़ी बोली की कविता के प्रचार के साथ काव्यक्षेत्र में जो अनधिकार-प्रवेश की प्रवृत्ति अधिक हो रही है वह ठीक नहीं। कविता का अभ्यास आरंभ करने के पहले अपनी भाषा के बहुत से नए पुराने काव्यों की शैली का मनन करना, रीति-ग्रंथों का देखना, रस, अलंकार आदि से परिचित होना आवश्यक है।

क्रोध

[पंडित रामचंद्र शुक्ल]

क्रोध दुःख के कारण के साक्षात्कार वा अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दुःख और उसके कारण के संबंध का परिज्ञान आवश्यक है। जैसे तीन-चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे तो उसने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीड़ा और उस हाथ उठाने से क्या संबंध है यह वह नहीं जानता है। अतः वह केवल रोकर अपना दुःख मात्र प्रकट कर देता है। दुःख के कारण के साक्षात्कार के निश्चय के बिना क्रोध का उदय नहीं हो सकता। दुःख के सज्ञान हेतु पर प्रबल प्रभाव डालने में प्रवृत्ति करने की मानसिक क्रिया होने के कारण क्रोध का आविर्भाव बहुत पहले देखा जाता है। शिशु अपनी माता की आकृति से अभ्यस्त हो ज्यों ही यह जान जाता है कि दूध इसी से मिलता है, भूखा होने पर वह उसकी आहट पा रोने में कुछ क्रोध के चिन्ह दिखलाने लगता है।

सामाजिक जीवन के लिये क्रोध की बड़ी आवश्यकता है।

यदि क्रोध न हो तो जीव बहुत से दुःखों की चिर-निवृत्ति के लिये यत्न ही न करे। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के नित्य प्रहार सहता है। यदि उसमें क्रोध का विकास नहीं हुआ है तो वह केवल 'आह ऊह' करेगा जिसका उस दुष्ट पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उस दुष्ट के हृदय में दया आदि उत्पन्न करने में बड़ी देर लगेगी। प्रकृति किसी को इतना समय ऐसे छोटे छोटे कामों के लिये नहीं दे सकती। भय के द्वारा भी प्राणी अपनी रक्षा करता है पर समाज में इस प्रकार की दुःख निवृत्ति चिरस्थायिनी नहीं होती। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि क्रोध के समय क्रोधकर्ता के हृदय में भावी दुःख से बचने वा बचाने की इच्छा रहती है बल्कि चेतन प्रकृति के भीतर क्रोध इसीलिये है।

ऊपर कहा जा चुका है कि क्रोध दुःख के 'कारण के परिज्ञान वा साक्षात्कार से होता है। अतः एक तो जहाँ इस ज्ञान में त्रुटि हुई वहाँ क्रोध धोखा देता है। दूसरी बात यह है कि क्रोध जिस ओर से दुःख आता है उसी ओर देखता है, अपने धारणकर्ता की ओर नहीं। जिससे दुःख पहुँचा है वा पहुँचेगा उसका नाश हो वा उसे दुःख पहुँचे यही क्रोध का लक्ष्य है, क्रोध करनेवाले का फिर क्या होगा इससे उसे कुछ सरोकार नहीं। इसी से एक तो मनोवेग ही एक दूसरे को परिमित किया करते हैं, दूसरे विचारशक्ति भी उन पर अंकुश रखती है। यदि क्रोध इतना उग्र हुआ कि हृदय में दुःख के

कारण की अवरोध-शक्ति के रूप और परिणाम के निश्चय दया, भय आदि और विकारो के संचार तथा उचित अनुचित के विचार के लिये जगह ही न रही तो वहुत हानि पहुँच जाती है। जैसे कोई सुने कि उसका शत्रु वीस आदमी लेकर उसे मारने आ रहा है और वह चट क्रोध से व्याकुल होकर विना शत्रु की शक्ति का विचार वा भय किए उसे मारने के लिये अकेला दौड़े तो उसके मारने जाने में वहुत कम संदेह है। अतः कारण के यथार्थ निश्चय के उपरांत आवश्यक मात्रा में और उपयुक्त स्थिति में भी क्रोध वह काम दे सकता है जिसके लिये उसका विकास होता है।

कभी कभी लोग अपने कुटुंबियों वा स्नेहियों से झगड़कर उन्हें पीछे से दुःख पहुँचाने के लिये अपना सिर तक पटक देते हैं। यह सिर पटकना अपने को दुःख पहुँचाने के अभिप्राय से नहीं होता क्योंकि बिलकुल वेगानों के साथ कोई ऐसा नहीं करता। जब किसी को क्रोध में सिर पटकते देखे तब समझ लेना चाहिए कि उसका क्रोध ऐसे व्यक्ति के ऊपर है जिसे उसके सिर पटकने की परवा है, अर्थात् जिसे उसके सिर फूटने से यदि उस समय नहीं तो आगे चलकर दुःख पहुँचेगा।

क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी कभी मनुष्य यह विचार नहीं करता कि जिसने दुःख पहुँचाया है उसमें दुःख पहुँचाने की इच्छा थी या नहीं। इसीसे कभी तो वह

अचानक पैर कुचल जाने पर किसी को मार बैठता है और कभी ठोकर खाकर कंकड़-पत्थर तोड़ने लगता है। चाणक्य ब्राह्मण अपना विवाह करने जाता था। मार्ग में उसके पैर में कुश चुभे। वह चट मट्ठा और कुदाली लेकर पहुँचा और कुशों को उखाड़ उखाड़कर उनकी जड़ों में मट्ठा देने लगा। मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते फूँकते थक गए। जब आग नहीं जली तब उस पर कोप करके चूल्हे में पानी डाल किनारे हो गए। इस प्रकार का क्रोध असंस्कृत है। यात्रियों ने बहुत से ऐसे जंगलियो का हाल लिखा है जो रास्ते मे पत्थर की ठोकर लगने पर बिना उसको चूर चूर किए आगे नहीं बढ़ते। इस प्रकार का क्रोध अपने दूसरे भाइयों के स्थान को दबाए हुए है। अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई मनोवेग अधिक प्रबल पड़ गया तो वह अंतःकरण में अव्यवस्था उत्पन्न कर मनुष्य को फिर बचपन से मिलती-जुलती अवस्था में ले जाकर पटक देता है।

जिससे एक बार दुःख पहुँचा, पर उसके दोहराए जाने की संभावना कुछ भी नही है उसको जो कष्ट पहुँचाया जाता है वह प्रतिकार कहलाता है। एक दूसरे से अपरिचित दो आदमी रेल पर चले जाते हैं। इनमें से एक को आगे ही के स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुँचते पहुँचते बात ही बात में एक ने दूसरे को एक तमाचा जड़ दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते

उतरते उसको एक तमाचा लगा दे तो यह उसका प्रतिकार वा बदला कहा जायगा क्योंकि उसे फिर उसी व्यक्ति से तमाचे खाने की संभावना का कुछ भी निश्चय नही था। जहाँ और दुःख पहुँचने की कुछ भी संभावना होगी वहाँ शुद्ध प्रतिकार नही होगा। हमारा पड़ोसी कई दिनो से नित्य आकर हमें दो-चार टेढ़ी-सीधी सुना जाता है। यदि हम उसको एक दिन पकड़ कर पीट दे तो हमारा यह कर्म्म शुद्ध प्रतिकार नहीं कहलाएगा क्योंकि नित्य गाली सुनने के दुःख से बचने के परिणाम की ओर भी हमारी दृष्टि रही। इन दोनों अवस्थाओं को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगेगा कि दुःख से उद्विग्न होकर दुःखदाता को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति दोनो में है। पर एक मे वह परिणाम आदि के विचार को बिलकुल छोड़े हुए है और दूसरे में कुछ लिए हुए। इनमें से पहले प्रकार का क्रोध निष्फल समझा जाता है। पर थोड़े धैर्य्य के साथ सोचने से जान पड़ेगा कि इस प्रकार के क्रोध से स्वार्थसाधन तो नही होता पर परोक्ष रूप में कुछ लोकहित-साधन अवश्य हो जाता है। दुःख पहुँचानेवाले से हमें फिर दुःख पहुँचाने का डर न सही पर समाज को तो है। इससे उसे उचित दंड देने से पहले तो उसकी शिक्षा वा भलाई हो जाती है, फिर समाज के और लोगो का भी बचाव हो जाता है। क्रोधकर्त्ता की दृष्टि तो इन परिणामो की ओर नही रहती है पर सृष्टि-विधान में इस प्रकार के क्रोध की नियुक्ति इन्हीं परिणामों के लिये है।

क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है इसी से अवसर पड़ने पर यह और दूसरे मनोविकारो का भी साथ देकर उनकी सहायता करता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय में उस अनाथ अबला के प्रति दया उमड़ रही है। पर दया की पहुँच तो आर्त ही तक है। यदि वह स्त्री भूखी होती तो हम उसे कुछ रुपया पैसा देकर अपने दया के वेग को शांत कर लेते। पर यहाँ तो उस दुःख का हेतु मूर्तिमान् तथा अपने विरूद्ध प्रयत्नों को ज्ञानपूर्वक व्यर्थ करने की शक्ति रखने वाला है। ऐसी अवस्था में क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिये उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती है। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया की वाहवाही को नहीं बँटाता। काम क्रोध करता है पर नाम दया का ही होता है। लोग यही कहते है "उसने दया करके बचा लिया"; यह कोई नहीं कहता कि "क्रोध करके बचा लिया"। ऐसे अवसरो पर यदि क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपने अनुकूल परिणाम उपस्थित ही नही कर सकती। एक अघोरी हमारे सामने मक्खियाँ मार मार कर खा रहा है और हमें घिन लग रही है। हम उससे नम्रतापूर्वक हटने के लिये कह रहे हैं और वह नही सुन रहा है। चट हमें क्रोध आ जाता है और हम उसे बलात् हटाने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

क्रोध के निरोध का उपदेश अर्थ परायण और धर्म परायण दोनों देते है। पर दोनों में जिसे अति से अधिक सावधान रहना चाहिए वही कुछ भी नहीं रहता। बाकी रुपया वसूल करने का ढंग वतानेवाला चाहे कड़े पड़ने की शिक्षा दे भी दे पर धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलनेवाला धोखे मे भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा। क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों को सिद्धों और साधकों से कम नही होता। जिससे कुछ स्वार्थ निकलना रहता है; जिसे बातो मे फँसाकर ठगना रहता है उसकी कठोर से कठोर और अनुचित से अनुचित बातो पर न जाने कितने लोग जरा भी क्रोध नही करते। पर उनका यह अक्रोध न धर्म का लक्षण है न साधन।

वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिससे हमें दुःख पहुँचा है उसपर हमने जो क्रोध किया वह यदि हमारे हृदय में बहुत दिनो तक टिका रहा तो वह वैर कहलाता है। इस स्थायी रूप मे टिक जाने के कारण क्रोध की क्षिप्रता और हड़बड़ी तो कम हो जाती है पर वह और धैर्य विचार और युक्ति के साथ लक्ष्य को पीड़ित करने की प्रेरणा बराबर बहुत काल तक किया करता है। क्रोध अपना बचाव करते हुए शत्रु को पीड़ित करने की युक्ति आदि सोचने का समय नही देता पर वैर इसके लिए बहुत समय देता है। वास्तव में क्रोध और वैर मे केवल काल भेद है। दुःख पहुँचने के साथ ही दुःखदाता को पीड़ित करने की प्रेरणा क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर वैर है।

किसी ने हमें गाली दी। यदि हमने उसी समय उसे मार दिया तो हमने क्रोध किया। मान लीजिए कि वह गाली देकर भाग गया और दो महीने बाद हमें कहीं मिला। अब यदि उससे बिना फिर गाली सुने हमने उसे मिलने के साथ ही मार दिया तो यह हमारा वैर निकालना हुआ। इस विवरण से स्पष्ट है कि वैर उन्ही प्राणियों में होता है जिनमें धारणा अर्थात् भावो के संचय की शक्ति होती है। पशु और बच्चे किसी से वैर नहीं मानते। वे क्रोध करते हैं और थोड़ी देर के बाद भूल जाते है। क्रोध का यह स्थायी रूप भी आपदाओं की पहिचान कराकर उनसे बहुत काल तक बचाए रखने के लिये दिया गया है

बुंदेलखंड-पर्यटन

[बाबू कृष्ण बलदेव वर्मा]

ओड़छा

कवि-कुल-कमल दिवाकर महात्मा सूरदास जी ने सत्य कहा है—"सबै दिन जात न एक समान"। निस्संदेह यह वाक्य ऐसा सारगर्भित है कि इसे जितना ही सोचिए उतना ही यह गूढ़ प्रतीत होता है। इतिहासानुरागी लोगों के लिये तो यह वाक्य ऐसा उपयोगी है कि यदि वे इसे स्वर्णाक्षरों से लिखकर रात-दिन अपने सामने लटकाए रहें तो भी अनुचित न होगा। दंभी पुरुषों के सम्मुख तो यह वाक्य घनघोर नाद से पढ़े जाने के योग्य ही है। जनवरी मास में बुँदेलखंड के बीच पर्य्यटन करता हुआ जब मैं झाँसी पहुँचा और वहां के दुर्गम दुर्ग, कोट तथा महारानी लक्ष्मीबाई के राजभवन पर मेरी दृष्टि पड़ी, नगर में हिंदुओं के प्राचीन नगरों के ढब के हाट बाट, मंदिर, गृह—जिनके द्वारों पर गज, अश्व, सेना, देवतादि के नाना रंगों

के चित्र बने थे—मैंने देखे, तब अनायास एरियन, फाहियान, ह्युएनसॉग आदि विदेशियो द्वारा लिखित और प्राचीन कवियो द्वारा वर्णित भारतवर्षीय नगरो का चित्र ऑखो के सम्मुख आ खड़ा हुआ और भारतवर्ष की उस सुख की दशा को वर्तमान दीन दशा से मिलाने पर चित्त विकल हो उठा। कंठावरोध होने को ही था कि पुनः महात्मा सूरदास ने मेरा प्रबोध किया और 'सबै दिन जात न एक समान" इस बात को स्मरण कर जगत् को परिवर्त्तनशील जान चित्त ने धैर्य धारण किया। पुनः कई दिन तक मैं झॉसी नगर के प्राचीन चिह्नो का अनुसंधान करता रहा। इसी अवसर पर एक दिन मैं नगर के कोट के एक द्वार से निकला जो "ओड़छा द्वार" करके प्रसिद्ध है। इस द्वार को ही मुझे अकस्मात् कवि-कुल-शिरोमणि सूरदासजी के सहयोगी साहित्यगगन के शोभावर्द्धक नक्षत्र कवींद्र केशवदासजी के, तथा उनके प्रतिपालक और प्रचंड मुगल-सम्राट् कुटिल-नित्यव-लंबी अकबर के दर्प-दमनकारी बुदेलवशावतंश वीर शिरोमणि महाराज वीरसिंह देवजी के अलौकिक चरित्रो की रगभूमि का स्मरण हो आया। सब ओर से हटकर चित्त उसकी ओर आक-र्षित हो गया। यद्यपि मुझे कई एक आवश्यक कार्यों के कारण झांसी से बाहर जाने का अवकाश न था, परतु "मन हठ पऱ्यो न सुनहिं सिखावा" की दशा हुई। सब काम छोड़कर सबके वर्जने पर भी मैं गाड़ी मॅगा दूसरे दिन प्रात.काल इन प्रात.स्मर-णीय महानुभावो की जन्मभूमि देखने को चल दिया। प्रकट हो

कि ओड़छा झाँसी से आठ मील के अंतर पर है। मार्ग अत्यंत दुर्गम है, यद्यपि ओड़छाधिपति महाराज टीकमगढ़ ने, जो बुंदेलखंडीय राजमंडल के अग्रणी हैं, उसे ऐसा सुधरवा रखा है कि गाड़ी आदि के जाने में कुछ कष्ट नहीं होता। पार्वतीय मार्ग होने से बहुधा मार्ग ऊँचा-नीचा है जो मुझे संसार की संपत्ति-विपत्ति का ठौर ठौर पर स्मरण दिलाता था। मार्ग के दोनों ओर सघन वनवृक्ष प्रहरीरूप में खड़े थे; उन पर विहंग-वृंद कलरव एक अपूर्व आनंद का संचार कर रहा था। पाठक-वृंद, कदाचित् आपको नगरवासी होने से वनवर्णन ऊभट प्रतीत होता होगा और आप मुख्य स्थान का वृत्तांत सुनने के लिये अधिक उत्सुक होंगे, अतः हम मार्ग का कुछ भी वृत्तांत न कह मुख्य स्थान पर पहुँचते है। भारतवर्षीय इतिहास में जबसे यवनगण के संकटमय चरणों के इस देश मे पड़ने का वर्णन पाया जाता है तब से इस देश के दो प्रांतों के राजपूत वीरों को हम विशेषतः रणक्षेत्र में पाते हैं, एक तो राजपूताने के, दूसरे बुँदेलखंड के। आज का हमारा आलोच्य विषय बुँदेलखंड का एक नगर है। इसलिये राजपुताने का वर्णन न कर हम कुछ संक्षेप सा वर्णन बुँदेले राजपूतों के वंश का कर देना उचित समझते हैं।

विंध्याचल की नाना शाखाएँ इस देश के भीतर प्रविष्ट हैं अतः यह पर्वतीय देश उसी संबंध से विंध्यखंड, विंध्यशैलखंड अथवा विंध्येलखंड कहलाया और कालांतर में इस शब्द का

अपभ्रंश हो देश बुंदेलखंड कहलाने लगा* ।

यों तो कवि-कुल-गुरु महर्षि वाल्मीकि जी की रामायण में इसके चित्रकूट आदि स्थानों का वर्णन मिलता है; परंतु महाभारत में चेदि (चंदेरी) राजा के प्रसंग से इस देश का सविस्तर उल्लेख पाया जाता है। युगांतर का इतिहास होने से हमें यहाँ उसके वर्णन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और हम कवि चंद लिखित महोबा खंड के साक्ष्य पर चंदेलवंश का—जिसकी प्रथम राजधानी कालिंजर का दुर्गम दुर्ग अद्यापि उनके प्रतापशील होने की सुध दिलाता है और द्वितीय राजधानी खजूरपुर के अद्वितीय प्राचीन मठ, मंदिर, तड़ागादि अब तक उसके महत्त्व के सूचक छत्रपुर राज्यांतर्गत खड़े हैं और तृतीय राजधानी महोबा के प्रबल वीर आल्हा, ऊदल मलखान आदि ने एक वार समस्त भारत में चंदेल वंश की विजय का डंका पीट दिल्लीश्वर पृथ्वीराज तक को थर्रा दिया था और वे अपने आश्चर्यदायक विशाल चिह्न अब तक महोबे के सन्निकट स्थानों में छोड़ गए हैं—सविस्तर

* किसी किसी का यह पौराणिक मत है कि इस वंश के मूल पुरुष राजा वीर ने उग्र तप कर श्री विंध्यवासिनी को अपना सिर चढाया था। भगवती उनसे ऐसी प्रसन्न हुईं कि उन्होंने उन्हें पुन. जीवित कर दिया। इतना ही नहीं, देवी की कृपा से सिर चढ़ाने में जो रक्त-विंदु गिरे थे उनसे अनेक वीर पुरुष उत्पन्न हुए जो राजा के सहायक हुए। बूँदों से उत्पन्न होने से वे बुँदेले कहलाए।

वर्णन करने का संकल्प अलग कर चुके हैं, इसलिए यहाँ पर इतना ही लिखते है कि इस प्रचंड वंश के भाग्य का सूर्य भी सन् ११६७ ई० के लगभग दिल्लीश्वर पृथ्वीराज के भाग्यभानु के साथ ही साथ, यवनदीप के प्रज्वलित होने के समय, अस्ताचल को प्रस्थान कर गया और तदुपरांत वीर बुँदेलवंशीय राजपूतों के शासन का इस देश मे प्रादुर्भाव हुआ। जब चंदेल-चंद्र के वियोग मे बुँदेल-भू-कुमुदिनी यवन-भाग्य-भास्कर को देख मुरझा रही थी, इस देश का शृंखलाबद्ध राज्य नष्टप्राय हो गाँव गाँव के निराले ठाकुर होते जाते थे, उसी समय शाकंभरी नरेश पृथ्वीराज को छल से मारनेहारे क्रूर शहाबुद्दीन गोरी के सेनानायक, पृथ्वीराज के अधिकृत देशों मे फैल गए। जिस लोरक खत्री ने आर्यवंश की अहित चिंता कर कई बार शहाबुद्दीन को पृथ्वीराज के बंधन से छुड़ा और अंत में पृथ्वीराज की वैसी ही दशा में सहायता न कर, शहाबुद्दीन के हाथ उसका शिरच्छेद होने दिया, और इस प्रकार स्वजातिघ्नता का पाप अपने सिर पर लिया उसी की संतान, यवन-शासन होते ही, महोबे की ओर आई और राज्य की सीमा पर जालौन प्रांत के कोंच परगने के मुहौनी ग्राम में अपने राज्य की राजधानी नियत कर रहने लगी।

धन्य भारत! तेरा जलवायु अद्भुत है, कोई कैसा ही क्रूर कुटिल प्रकृतिवाला तेरी गोद में क्यों न आवे, जहाँ पतित-पावनी भगवती जह्नुनंदिनी के जलबिंदुओं का उसने आचमन

किया और जहाँ त्रैलोक्य विभूति को तृण गिनने और ब्रह्मानंदामृत का पान करनेहारे हिमशृंगाश्रित ऋषियों के पादस्पर्शपूत वायु उसके अंगों में लगी, तहाँ उसके मनोविकार, जन्म-जन्मांतर के पाप, क्षणमात्र में दूर हुए और उसमें भी साधुत्व आ ही गया। "खल सुधरहि सतसंगति पाई—पारस परस कुधातु सुहाई" का न्याय होता ही है।

लोरक की संतानों की भी यही दशा हुई। भारतवर्ष के जलवायु ने उन्हें यहाँ के पवित्र गुणों से अलंकृत कर दिया; सदाचार, सद्व्यवहार, बंधुभाव, सुशीलता और सुजनता का सचार उनके हृदय में हो गया। मुहौनी गद्दी के एक वृद्ध महाराज निस्संतान थे; उनके जीवनकाल की संध्या होने ही को थी कि इतने में काशी के प्रसिद्ध गहिरवार-वंश-भूषण राजा कर्ण किसी कारण अपने पूर्वजों की राजगद्दी काशी छोड़ मुहौनी आए। निस्संतान मुहौनी राज्याधीश ने बड़े प्यार से उनका सत्कार किया और उनको अपना पाहुना बनाया। कुछ कालोपरांत दोनों में घनिष्ठ प्रेम हो गया और मुहौनी राज महाराज कर्ण के गुणों से ऐसे मोहित हो गए कि अपना समस्त राज आगंतुक को सौंप आप सुरपुर सिधारे। यही राजा कर्ण बुंदेलवंश के मूल पुरुष हैं। राजा कर्ण और उनके पुत्र अर्जुनपाल मुहौनी में ही राज करते रहे और अपने राज्य का विस्तार करते गए; परंतु अर्जुनपालजी के पुत्र राजा सहनपाल ने प्रबल खँगार जाति को परास्त कर और उनकी राज-

धानी गढ़-कुंडार को विजय कर मुहौमी से राजधानी हटा गढ़-कुंडार को अपनी राजधानी बनाया। राजा सहनपाल, राजा सहजइंद्र, राजा नौनिध, राजा पृथु, राजा सूर, राजा रामचंद्र, राजा मेदिनीमल, राजा अर्जुन, राजा राय अनूप, राजा मलखान, राजा प्रतापरुद्र तक यहाँ राज्य करते रहे, परंतु महाराज रुद्र ने गढ़-कुंडार से राजधानी हटा एक सिद्धजी के आज्ञानुकूल वेत्रवती के तट पर ओड़छा बसाया। यही ओड़छा नगर आज हमारा आलोच्य विषय है।

पाठक महानुभावो! आप पहले थोड़ा प्रकृति का वर्णन सुन लीजिए और देखिए कि यहाँ वह किस रूप में विस्तृत है। नगर के चतुर्दिक् पर्वतों के छोटे छोटे शृंग फैले हुए हैं। इन पर पलाश, खैर, बरगद, पीपल के वन के वन खड़े हैं। इन्हीं के बीच बीच मे कहीं शिवमंदिर, कही गिरे-पड़े कोट, कहीं तिद्वारी देखने मे आती हैं। जंतु भी बहुतायत से इन वनों में रहते हैं। पर्वतो के बीच बीच मे बड़े बड़े नाले है जो जड़ी बूटियो से भरे पड़े है। बबुई, दोनामरुआ और तुलसी के पौधे समभूमि पर सहस्रों देख पड़ते है। निर्मल वेत्रवती पर्वतों को विदारकर बहती है और पत्थरों की चट्टानों से समभूमि पर जो पथरीली है, गिरती है, जिससे एक विशेष आनंददायक वाद्यनाद मीलों से कर्णकुहर मे प्रवेश करता है और जलकण उड़ उड़कर मुक्ताहार की छबि दिखाते तथा रविकिरण के संयोग से सैकड़ों इंद्रधनुष बनाते है। नदी की थाह में नाना रंग

के पत्थरों के छोटे छोटे टुकड़े पड़े रहते हैं, जिन पर वेग से बहती हुई धारा नवरत्नों की चादर पर बहती हुई जलधारा की छटा दिखाती है। नदी के उभय तटों पर ऊँची पथरीली भूमि है। इसी पर पुराना नगर बसा था जिसके खँडहर अद्यापि कई मील तक विस्तृत है। नदी के दोनो तटो पर देवालयो की पाँते, कूप, बावली, राजाओं की समाधियो पर के मन्दिर दिखाई पड़ते हैं। जब वेत्रवती ओड़छा के मध्य मे पहुँचती है तब वह दो धाराओं में विभक्त हो जाती है और मील भर के लगभग लबा एक अडाकार टापू बीच में रह जाता है। पाठक महानुभावो! आप इस टापू को भूल न जाइएगा। आगे चलकर आप इस टापू पर फिर आवेंगे। नगर के चतुर्दिक पहाड़ी पत्थरो की टोलें चुन चुनकर कोट बनाया गया था और उसमे बड़े बड़े ऊंचे फाटक छोड़ दिए गए थे। वे टोले चूने से जोड़ी नही गई हैं, केवल एक दूसरे पर चुन दी गई है। इनके दोनो ओर सघन वृत्त जम आए हैं जिनकी जोड़ो मे फँसकर ये ऐसी हो गई हैं कि हिलाए नहीं हिल सकती और इसी कारण स्वाभाविक पर्वत-श्रेणी सी प्रतीत होती हैं। इस उजड़ दशा में भी हमें यह स्थान रम्य जान पड़ता है, मानो मनुष्यो के अभाव में स्वय प्रकृतिदेवी वहाँ पथिकों का सत्कार करती है। इसी रम्य भूमि पर महाराज रणरुद्रजी ने ओड़छा बसाया था।

किसी कवि ने सत्य कहा है "गुण ना हिरानो गुणग्राहक हिरानो है।" राजा गुणग्राहक होना चाहिए, फिर गुणियों की

त्रुटि कहाँ। राजा रणरुद्र की गुणग्राहकता से आन की आन में सैकड़ों गुणी, पंडित, विद्वान, नीतिज्ञ, ओड़छे में आ बसे; सबका राजदरबार से सत्कार होने लगा। महाराज रणरुद्र के पश्चात् महाराज भारतचंद्र, और तब हरिचंद्र राजा हुए। इन सपूतों ने अपने पूर्वजों के राज्य को और भी बढ़ाया। कृतघ्न शेरशाह सूर ने पूर्व उपकारों को भूल महाराज हरिचंद्र पर आक्रमण किया। परंतु अंत मे वह कायर इनकी कृपाण का लेख अपनी पीठ पर लिखा रक्तप्लावित और आहत हो कायरों की भाँति रण से भाग गया। ओड़छे का चतुर्भुजजी का विशाल मंदिर इन्हीं महाराज का कीर्तिस्तंभ है। यह स्वर्णकलशमय मंदिर तीन शिखरों में है। एक तो पर्वत के समान ऊँची बैठक पर यह मंदिर बनवाया गया है दूसरे मंदिर की ऊँचाई भी एक पहाड़ के समान ही है। इसका विस्तृत सभामंडप वृंदावन के गोविंददेवजी के मंदिर से किसी अंश में न्यून नहीं है। सभामंडप मे वायु तथा उजाले के लिये द्वार कटे हैं और एक छोर पर चतुर्भुजजी की मूर्ति स्थापित है। सभामंडप के किसी द्वार पर खड़े हो जाइए, नगर के उस ओर का सारा भाग हथेली पर की वस्तु की भाँति दृष्टिगोचर होगा। छत पर से तो समस्त नगर ही दिखाई पड़ता है। यह मंदिर एक छोटे किले के समान है और ऐसा दृढ़ है कि कदाचित तोपों की मार भी वह सरलता से सहन कर सके। भूलभुलैयों की भाँति इसकी छत पर द्वार कटे हैं।

अपने ढंग का यह मंदिर ऐसा अनूठा है कि कदाचित् बुँदेलखंड में कोई ऐसा दूसरा मंदिर न निकले। परंतु कुछ कारणों से यह मंदिर अपूर्ण सा रहा और महाराज स्वर्गयात्रा कर गए। राजसिंहासन पर यशस्वी महाराज मधुकर साह आसीन हुए। मुगलवंश का भाग्य इस समय पूर्णिमा के चंद्रमा के समान चमचमा रहा था। शुद्ध स्वार्थी लोभी जन दिल्लीश्वर की तुलना 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" कहकर परमेश्वर से करने लगे थे और अपनी कुटिल नीति से अकबर भारतवर्ष के हिंदू राजा मात्र से अपना सबंध जोड़ उन्हें धोखा दे मुसलमान बनाने का प्रबंध कर रहा था, कि इतने में महाराज मधुकर साह का अर्कोदय हो उठा। उनकी विमल कीर्ति मुगल-सम्राट् का हृदय सालने लगी। उसके यश का खद्योत इनके यशार्क के सम्मुख कांतिहीन सा हो गया और उसके यश की जर्जरित नौका इनके अगम्य कीर्तिसागर में डूबती जान पड़ी। तब दुराग्रही मुगल-सम्राट् ने ईर्ष्यावश इन्हें भी राजपूताने के कुछ राजपूतवंशों के समान अपनी दासत्व-शृंखला में बाँधने के नाना उपाय रचे, परंतु यहाँ तो "भूख मरै दिन सात लौं सिंह घास नहीं खाय" की दशा थी। अकबर ने सब प्रयोगों के निष्फल होनेपर अपने पुत्र मुराद को बलाध्यक्ष कर इन पर सेना संधान किया। परंतु वह सेना महाराज के कृपाण की प्रज्वलित दीपज्योति की पतंग हुई। मुराद रण से भाग गया; अंत में अकबर ने हार मानकर इनसे संधि कर ली। कवींद्र

केशवदासजी के पितामह कृष्णदत्तजी मिश्र, जो प्रख्यात प्रबोध-चंद्रोदय नामक रूपक के रचयिता हैं, इन्हीं महाराज के राजपंडित थे।

इन महाराज का और अकबर का यहाँ तक घनिष्ठ संबंध चढ़ता गया और अकबर इनका यहाँ तक कृपाकांक्षी रहा कि उसने इनके पुत्र महाराज रत्नसेन के सिर पर अपने हाथ से पगड़ी बाँधी और इनके ज्येष्ठ पुत्र महाराज रामशाह की सहायता ले दक्षिण विजय किया। महाराज के स्वर्गवासी होने पर वीरकेशरी महाराज वीरसिंहदेव राज्याधिकारी हुए। औदार्य, निश्छलता और शौर्य इन्हीं के भाग्य में आ पड़ा था। अकबर के आचरणों से इन्हें स्वाभाविक घृणा थी। स्त्रियों का बाजार लगवाकर वहाँ से महिलागण को भटकवाकर उनका धर्म-नाश करने और व्यर्थ राजपूत राजाओं को अपनी बेटियाँ यवनों के घर व्याहने के लिये सताने आदि की उसकी कार्रवाईयाँ सुन सुन इनकी क्रोधाग्नि भड़क उठा करती थी। ये ऐसा अवसर ढूँढ़ा ही करते थे कि अकबर किसी प्रकार इनसे रण रोपे और ये अपने हाथ से उसका दर्प दमन करें। होते होते ऐसा अवसर आ ही पड़ा। युवराज सलीम और उसके पिता अकबर में परस्पर वैमनस्य रहा करता था, क्योंकि अकबर तो अपने मंत्रियों के पैरों चलता था, विशेषतः अबुल-फज्ल के। अबुलफज्ल यह चाहा करता था कि अकबर के पश्चात किसी ऐसे को बादशाह बनावे जो उसके हाथ की

कठपुतली हो। सलीम अपने पैरों चलनेहारा था, इसी कारण वह अबुलफज्ल को खटकता था। अबुलफज्ल फूट डालकर अकबर को सलीम से लड़ाता रहता था। सलीम अपना पक्ष पिता की दृष्टि में निर्बल पाकर किसी बड़े तथा बलवान् का आश्रय ढूँढ़ने लगा। अंत में उसकी दृष्टि में वीर महाराज वीरसिंहदेव ही "निरबल को बल राम" दिखाई पड़े। सलीम आकर महाराज का पाहुना हुआ और उसने अपना सब वृत्तांत कहा। महाराज ने उसे सहायता देने का संकल्प किया और जब गोलकुंडे से अबुलफज्ल लौटकर आगरे आ रहा था, तब ग्वालियर के निकट आँतरी की घाटी में इन्होंने उससे रण रोपा और अपने हाथ से अकबर के एकमात्र प्यारे मंत्री का सिर काट सलीम के पास प्रयाग भेज दिया और इस प्रकार अकबर को युद्ध के लिये उत्तेजित किया। परंतु अकबर इतने पर भी इनके सम्मुख रण रोपने का साहस न कर सका, रो रोकर अबुलफज्ल के शोक में अपना जीवन घटाता रहा और अंत में अपने बुढ़ापे के दो वर्षों को काटकर मर गया। ओड़छे का राज्य तथा बुंदेलकुल के भाग्य का भानु इस समय पूर्ण उन्नति पर था। भारतवर्ष में उसकी प्रख्याति हो रही थी। राजसभा सर्वांगपूर्ण थी। महाराज वीरसिंहदेव को महाराज इंद्रजीत से सहोदर मिले थे, जिनका चातुर्य्य संसार भर में प्रकट था। महाराज को सावंत विक्रमसिंह, अर्जुनसिंह ऐसे स्वामिभक्त कर्मचारी और रामचंद्रिका, कवि-

प्रिया रसिकप्रिया, विज्ञानगीता ऐसे ग्रंथों के रचयिता कवीन्द्र केशवदास से कवि और प्रवीणराय, सत्यराय, रंगराय सदृश काव्यकलासंपन्न, गान तथा वाद्य-विद्यापारंगत गायिकाएँ मिली थीं। ओड़छाधीश की जय देश-देशांतर में बोली जाती थी।

ऐसी उन्नति के दिनों में, पाठक महानुभाव, हम आपको एक बार उस टापू पर, जो तुंगारण्य से आगे वेत्रवती की दो धाराओं के बीच में दिखा चुके हैं, फिर ले जाना चाहते है। यह टापू रघुनाथजी के मंदिर के द्वार के सामने ठीक सीध में पड़ता है। चतुर्भुजजी के मंदिर के सभामंडप में खड़े हो जाइए, इस टापू की एक एक अंगुल भूमि दिखाई पड़ेगी। जन-रव है कि एक बार महाराज वीरसिंहदेव चतुर्भुजजी के मंदिर का दर्शन कर सम्मुख के द्वार पर खड़े वेतवा की तरंग-माला देख रहे थे, इतने में उनको अनायास एक ग्रामीण युवती दिखाई पड़ी। यह युवती अपने सिर पर एक डलिया लिए दूसरे तट से आ रही थी। ज्योंही नदी की एक धार मॅझियाकर टापू के तट पर पहुँची, त्योंही वह प्रसव-पीड़ा से विकल होकर सिर से डलिया उतार वहीं बैठ गई और मूर्च्छित हो गई। थोड़ी देर पीछे वह फिर विकल होकर रो उठी। दयालु वीरसिंहदेव यह कौतुक देख ही रहे थे। उनको प्रकट हो गया कि वह नवलबाल प्रसव पीड़ा से विकल है। महाराज ने उसी समय राजमंदिर में जा परिचारिकाओं को इसलिये भेजा कि वे उस निस्सहाय युवती की रक्षा करें। परि-

चारिकाओं ने जाकर उसे सँभाला और वहीं उसके पुत्र का जन्म हुआ। महाराज वीरसिंहदेव ने उसे तुरंत पालकी पर बालक सहित उठवा मँगाया और बड़े प्रेम से उसकी रक्षा और सेवा कराई। अंत में उसे उसके पति को सौंप दिया और प्रस्थान के समय उसे बहुत सा धन, रत्न, वस्त्रादि दे अपनी बेटी कह दिया। वह युवती ब्राह्मण वर्ण की थी। सती ब्राह्मणी उनको बहुत आशीर्वचन कहती अपने पति के घर गई। राजा के इस दया संपन्न कार्य की ख्याति फैल गई। कहते हैं कि जब महाराज उस ब्राह्मणी को प्रस्थान करा रहे थे, तब एक महात्मा आकर राजा के सम्मुख खड़े हो गए और बोले "राजन्! तेरा यह पुण्यकार्य तेरे सब पुण्यकार्यों से गुरुतर है, यह टापू सिद्धाश्रम है और तूने भी यहाँ पर महायज्ञ किया है। यदि तू यहाँ पर अपना राजमंदिर तथा कोट बनवावे तो तेरा आतंक वहाँ पर बैठ आज्ञा करने से दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जायगा।" सिद्धवचन सिर पर धर राजा ने उसी समय वहाँ राजमंदिर आदि बनवाना प्रारंभ कर दिया। कहते हैं कि जब किले के लिये टापू में नींव खोदी जा रही थी, तब एक मठ भूमि के भीतर दिखाई पड़ा। जब वह खोला गया तब एक और सिद्ध जी के दर्शन हुए, जिन्होंने यही आदेश किया कि मेरा मठ ज्यों का त्यों ही बंद करके ऊपर से अपना कोट बना लो। राजा ने वैसा ही किया और कुछ काल में कोट बनकर प्रस्तुत हो गया। महाराज के कोट के भीतर ही और बहुत से कार्यालय बन गए और

ओड़छा राजसभा के प्रवीण सभासदों के सुयश की सुवास दूर तक फैलने लगी । महाराज और उनके सहोदर इस अपने सौभाग्य को परिपूर्ण देख फूले नहीं समाते थे । "संसार परिवर्त्तनशील है", महाराज को यह बात भी भली भाँति ज्ञात थी कि मध्याह्न के पश्चात् साँझ होती है । शरीरधारी एक न एक दिवस मृत्यु का ग्रास होता ही है । कवींद्र केशवदासजी से महाराज ने स्पष्ट शब्दों मे एक बार कह ही डाला कि हमारी जीवन संध्या होने का समय अब निकट आ चला, इसका तो मुझे कुछ शोक नहीं है, परतु जब यह ध्यान आता है कि मृत्यु के प्रचंड बवंडर के झोंके से उड़ बालू के कणों की भाँति यह मंडली भी तितर-बितर हो जायगी तब आँखों के सम्मुख अंधकार सा छा जाता है और चित्त शोकाकुल हो उठता है, क्योंकि ऐसा समाज अब जन्मांतर में भी मिलना कठिन प्रतीत होता है। गुरुवर, ऐसा क्या आपके शास्त्र मे कुछ ऐसा उपाय है जिससे यह समाज अधिक काल तक स्थिर रह सके ? कवींद्र ने उत्तर दिया कि राजन् ! उपाय तो अवश्य है परंतु बहुत दुःखप्रद है । समस्त सभा यदि एक बार ही आत्मसमर्पण कर दे तो यह समाज प्रेतयोनि में एक सहस्र वर्ष तक स्थित रह सकता है । राजाने उपाय से सहमत हो कृत्य का विधान पूछा । कवींद्र ने प्रेतयज्ञ* का विधान कहा । राजा ने यज्ञ के लिये आज्ञा दी । तुगारण्य पर वेत्रवतीतट के

---

*इसका सविस्तर वृतात जानने के लिये प्रेतयज्ञ नामक नाटक देखिए ।

दक्षिण ओर प्रेतयज्ञ को लिये वेदी रचीगई और वहीं पर सब सभा प्रेतयज्ञ में आत्मसमर्पण कर भस्मीभूत हुई। मेरे अनुमान में यह ठौर महाराज वीरसिंहदेव के समाधि-मंदिर के पास कहीं पर होगा। प्रेतयज्ञ हुआ तो तुंगारण्य में ही; परंतु ठीक चिह्न अनिश्चित है †। महाराज के भस्मीभूत होते ही ओड़छे के भाग्य ने पुनः पलटा खाया। कालचक्र किसी और ही गति पर घूमने लगा और महात्मा सूरदासजी का वाक्य "सबै दिन जात न एक समान" यहाँ पर फिर चरितार्थ हुआ। जिस वीरकेशरी ने अकबर ऐसे प्रबल सम्राट् का दर्प दमन किया था, उसके ही निर्बल पुत्र शाहजहाँ बादशाह के अधीन हो दिल्ली के दरबारे-आम के खंभो से टिककर विनीत भाव से खड़े रहने लगे। केशवदास, विक्रमसिंह; अर्जुनसिंहादि अमात्यो के ठौर प्रतीतराय सदृश अमात्यो की प्रतीति होने लगी। बिहारीलाल के समान कवि "जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार। अब अलि रही गुलाब की, अपत कटीली डार" यह कह कर ओड़छा छोड़ने लगे। पाठक महाशयो ! बिहारीलालजी के "अपत कटीली डार" वाक्य से ही समझ लें जिए कि इतने ही स्वल्प काल में, अर्थात् पिता से पुत्र तक राज्य आने में, क्या अंतर पड़ गया। कवि अपने पिता केशवदास जी के समय के ओड़छे की उपमा गुलाब के लहलहे पुष्पमंडित प्रासाद से और अपने समय के ओड़छे की 'अपत कटीली डार' से देते हैं। एक

† कोई कोई प्रेतयज्ञ का स्थान सिंहपौर के निकट बताते हैं।

और दोहे में वे स्वयं कह चुके हैं "यहि आशा अटक्यो रह्यो अलि गुलाब के मूल। ह्वैहैं बहुरि बसंत ऋतु इन डारन वे फूल।" ओड़छे की राजसभा ने यहाँ तक पलटा खाया कि जिस राजवंश के लोग बंधुप्रेम में एक दूसरे पर प्राण निछावर करने को प्रस्तुत रहते थे, उन्ही की गद्दी के अधिकारी अपने सहोदरों को विष देने लगे। राजकुमार हरदेवसिंहजी* को उनके बड़े भाई ने अपनी पत्नी द्वारा विष दिलवाया; इस जघन्य कार्य पर राजवंश से सब संबधी और सजातीय रुष्ट हो गए। इन्हीं वीरों पर राज के महत्व-मंदिर की नींव थी, वह उनकी उदासीनता से ऐसी पोली पड़ी कि राज्य धसकने लगा, संबंधी इधर उधर तितर-बितर हो, अपने छोटे छोटे राज्य अलग बना बैठे, जिनमें से बहुत से अब तक बुंदेलखंड के अंतर्गत वर्तमान हैं। ओड़छा धीरे धीरे उजड़ने लगा, फिर कोई विशेष ख्याति के कार्य ऐसे नहीं हुए जिनसे इतिहास के पत्र सुभूषित होते। पर ओड़छा राज्य बना रहा; ओड़छे के राजमंदिर में दीपक जलते रहे। थोड़े दिनों में राजधानी ओड़छे से उठाकर टीकमगढ़ में कर दी गई। ओड़छे के राजमदिरों में ताले पड़ गए। जहाँ रात दिन राजकर्मचारियों, राजकुमारों, सैनिकों, सेवकों और दास-दासियों के कोलाहल से "निज पराय कछु सुनिय न काना" का वाक्य सत्य होता था, वहाँ अब चतुर्दिक निःस्तब्धता ही निःस्तब्धता

---

* प्रकट हो कि विशूचिका के दिनों में इन्हीं हरदेव की पूजा देशदेशांतर में रोगशान्त्यर्थ होती है।

भीषण रूप में छाई है। धन्य है, कालदेव! तुम्हारे विचित्र कौतुक हैं! शिवधनुष टालने का साहस तो भगवान् रामचंद्रजी ने कर लिया था, परंतु तुम्हारे चक्र को थामने की सामर्थ्य त्रैलोक्य में किसी को नहीं है। राजसभा टीकमगढ़ मे हो जाने से ओड़छा अब नितांत छविहीन हो गया है।

—०—

दंडदेव का आत्मनिवेदन

[पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी]

हमारा नाम दंड-देव है। पर हमारे जन्मदाता का कुछ भी पता नहीं। कोई कहता है कि हमारे पिता का नाम वंश या बाँस है। कोई कहता है नहीं, हमारे पूज्यपाद पितृमहाशय का नाम काष्ठ है। इसमें भी किसी किसी का मत-भेद है; क्योंकि कुछ लोगों का अनुमान है कि हमारे बाप का नाम बेंत है। इसी से हम कहते हैं कि हमारे जन्मदाता का नाम निश्चयपूर्वक कोई नहीं बता सकता। हम भी नहीं बता सकते। सब के गर्भ-धारिणी माता होती है, हमारे वह भी नहीं। हम तो जमीं-तोड़ हैं। यदि माता होती तो उससे पिता का नाम पूछकर आप पर अवश्य ही प्रकट कर देते। पर क्या करें, मजबूरी है। न बाप, न माँ। अपनी हुलिया यदि हम लिखना चाहें तो कैसे लिखावें। इस कारण हम सिर्फ अपना ही नाम बता सकते हैं।

हम राजराजेश्वर के हाथ से लेकर दीन-दुर्बल भिखारी तक के हाथ में विराजमान रहते हैं। जरा-जीर्णों के तो एक मात्र अवलंब हमीं हैं। हम इतने समदर्शी हैं कि हममें भेद-

ज्ञान जरा भी नहीं, धार्म्मिक-अधार्म्मिक, साधु-असाधु, काले गोरे सभी का पाणिस्पर्श हम करते हैं। यों तो हम सभी जगह रहते हैं, परंतु अदालतों और स्कूलों में हमारी ही तूती बोलती है। वहाँ हमारा अनवरत आदर होता है।

संसार में अवतार लेने का हमारा उद्देश दुष्ट मनुष्यों और दुर्वृत्त बालकों का शासन करना है। यदि हम अवतार न लेते तो ये लोग उच्छृंखल होकर मही-मंडल में सर्वत्र अराजकता उत्पन्न कर देते। दुष्ट हमें बुरा बताते हैं; हमारी निंदा करते हैं, हम पर झूठे झूठे आरोप करते हैं। परंतु हम 'उनकी कटूक्तियों और अभिशापों की जरा भी परवा नहीं करते। बात यह है कि, उनकी उन्नति के पथ-पदर्शक हमीं हैं। यदि हमी उनसे रूठ जायँ तो वे लोग दिन दहाड़े मार्गभ्रष्ट हुए बिना न रहें।

विलायत के प्रसिद्ध पंडित जानसन साहब को आप शायद जानते होंगे। ये वही महाशय हैं जिन्होंने एक बहुत बड़ा कोश, अँग्रेजी में, लिखा है और विलायती कवियों के जीवन-चरित, बड़ी बड़ी तीन जिल्दों में भरकर, चरित-रूपिणी त्रिपथगा प्रवाहित की है। एक दफे यही जानसन साहब कुछ भद्र महिलाओं का मधुर और मनोहर व्यवहार देखकर बड़े प्रसन्न हुए। इस सुंदर व्यवहार की उत्पत्ति का कारण खोजने पर उन्हें मालूम हुआ कि इन महिलाओं ने अपनी अपनी माताओं के कठिन शासन की कृपा ही से ऐसा भद्रोचित

व्यवहार सीखा है। इस पर उनके मुँह से सहसा निकल पड़ा—

"Rod I will honour thee
for this thy duty"

अर्थात हे दंड, तेरे इस कर्तव्य-पालन का मैं अत्यधिक आदर करता हूँ। जानसन साहब की इस उक्ति का मूल्य आप कम न समझिए। सचमुच ही हम बहुत बड़े सम्मान के पात्र हैं; क्योंकि हमीं तुम लोगों के—मानव-जाति के—भाग्य-विधाता और नियंता हैं।

संसार की सृष्टि करते समय परमेश्वर को मानव हृदय में एक उपदेष्टा के निवास की योजना करनी पड़ी थी। उसका नाम है विवेक। इस विवेक ही के अनुरोध से मानव-जाति पाप से धर-पकड़ करती हुई आज इस उन्नत अवस्था को प्राप्त हुई है। इसी विवेक की प्रेरणा से मनुष्य, अपनी आदिम अवस्था मे हमारी सहायता से पापियों और अपराधियो का शासन करते थे। शासन का प्रथम आविष्कृत अस्त्र, दंड, हमीं थे। परतु कालक्रम से हम अब नाना प्रकार के उपयोगी आकारों में परिणत हो गए है। हमारी प्रयोग-प्रणाली में भी अब बहुत कुछ उन्नति, सुधार और रूपांतर हो गया है।

पचास-साठ वर्ष के भीतर इस ससार मे बड़ा परिवर्तन —बहुत उथल-पथल—हो गया है। उसके बहुत पहले भी, इस विशाल जगत् में, हमारा राजत्व था। उस समय भी रूस में, आज-कल ही की तरह, मार-काट जारी थी। पोलैंड

में यद्यपि इस समय हमारी कम चाह है, पर उस समय वहाँ की स्त्रियों पर रूसी सिपाही मनमाना अत्याचार करते थे और बार बार हमारी सहायता लेते थे। चीन मे तब भी वंश-दंड का अटल राज्य था। टर्की मे तब भी डंडे चलते थे। श्यामवासियों की पूजा तब भी लाठी ही से की जाती थी। अफरीका से तब भी मंबो-जंबो (गैंड़े की खाल का हंटर) अंतर्हित न हुआ था। उस समय भी वयस्क भद्र महिलाओं पर चाबुक चलता था। पचास-साठ वर्ष पहले, संसार में, जिस दंड-शक्ति का निष्कंटक साम्राज्य था, यह न समझना कि अब उसका तिरोभाव हो गया है। प्राचीन काल की तरह अब भी सर्वत्र हमारा प्रभाव जागरूक है। इशारे के तौर पर हम जर्मनी के हर प्रांत मे वर्तमान अपनी अखड सत्ता का स्मरण दिलाए देते हैं। परंतु वर्तमान वृत्तांत सुनाने की अपेक्षा पहले हम अपना पुराना वृत्तांत सुना देना ही अच्छा समझते है।

प्राचीन काल में रोम-राज्य यूरोप की नाक समझा जाता था। दंड-दान या दंड-विधान में रोम ने कितनी उन्नति की थी, यह बात शायद सब लोग नहीं जानते। उस समय हम तीन भाई थे। रोमवाले साधारण दंड के बदले कशा-दंड (हटर या कोड़े) का उपयोग करते थे। इसी कशा-दंड के तारतम्य के अनुसार हमारे भिन्न भिन्न तीन नाम थे। इनमें से सबसे बड़े का नाम फ्लैगेलम (Flagellum), सँझले का

सेंटिका (Sentica) और छोटे का फेरूला (Ferula) था। रोम के न्यायालय और वहाँ की महिलाओं के कमरे हम इन्हीं तीनों भाइयों से सुसज्जित रहते थे। अपराधियो पर न्यायाधीशों की असीम क्षमता और प्रभुता थी। अनेक वार प्रभु या प्रभु-पत्नियाँ, क्रोध के वशवर्ती होकर, हमारी सहायता से अपने दासो के दुःखमय जीवन का अंत कर देती थीं। भोज के समय, आमंत्रित लोगो को प्रसन्न करने के लिये, दासो पर कशाघात करने की पूर्ण व्यवस्था थी। दासियो को तो एक प्रकार से नंगी ही रहना पड़ता था। वस्त्राच्छादित रहने से वे शायद कशाघातो का स्वाद अच्छी तरह न ले सके। इसीलिये ऐसी व्यवस्था थी। यहीं पर तुम हमारे प्रभाव का कहीं अंत न समझ लेना। दासियों को एक और भी उपाय से दंड दिया जाता था। छत की कड़ियों से उनके लंबे लंबे वाल बाँध दिए जाते थे। छत से लटक जाने पर उनके पैरों से कोई भारी चीज बाँध दी जाती थी, ताकि वे पैर न हिला सकें। यह प्रबंध हो चुकने पर उनके अंगो की परीक्षा करने के लिये हमारी योजना होती थी। यह सुनकर शायद तुम्हारा दिल दहल उठा होगा और तुम्हारा वदन काँपने लगा होगा। पर हम तो वड़े ही प्रसन्न है। ऐसा ही दंड दासो को भी दिया जाता था। परंतु बालो के बदले उनके हाथ बाँधे जाते थे।

इससे तुम समझ गए होगे कि रोम की महिलाएं हमारा

कितना आदर करती थी। परंतु यह बात वहाँ के कर्तृपक्ष को असह्य हो उठी। उन्होंने कहा—इस दंड-देव का इतना आदर! उन्होंने हमारी इस उपयोगिता मे विघ्न डालने के लिये कई कानून बना डाले। सम्राट् आड्रियन के राजत्व-काल में इस कानून को तोड़ने के अपराध में एक महिला को पाँच वर्ष का देश-निर्वासन दंड मिला था। अस्तु।

अब हम जर्मनी, फ्रांस, रूस, अमेरिका आदि का हाल सुनाते हैं। ध्यान लगाकर सुनिए। इन सब देशों के घरों, स्कूलों और अदालतों में भी पहले हमारा निश्चल राज्य था इनके सिवा सस्कार-घरो (Houses of correction) में भी हमारी षोडशोपचार पूजा होती थी। इन संस्कार-घरों अथवा चरित्र-सुधार-घरो में चरित्र और व्यवहार-विषयक दोषो का सुधार किया जाता था। अभिभावक जन अपनी दुश्चरित्र स्त्रियो और अधीनस्थ पुरुषो को इन घरो में भेज देते थे। वहाँ वे हमारी ही सहायता—हमारे ही आघात—से सुधारे जाते थे।

जर्मनी में तो हम अनेक रूपों मे विद्यमान थे। हमारे रूप थे कशादंड, वेत्रदंड, चर्मदंड आदि। कोतवालो और न्यायाधीशो को कशाघात करने के अखतियारात हासिल थे। सस्कार घरो में हतभागिनी नारियो ही की सख्या अधिक होती थी। वहाँ बहुधा निरपराधिनी रमणियो को भी, दुष्टों के फंदे में फँसकर, कशाघात सहने पड़ते थे। पहले वे नंगी

कर डाली जाती थीं। तब उन पर बेत पड़ते थे। जर्मन-भाषा के ग्रंथ-साहित्य में इस कशाघात का उल्लेख सैकड़ों जगह पाया जाता है।

फ्रांस में भी हमने मनमाना राज्य किया है। वहाँ के विद्यालयों में किसी समय, हमारा बड़ा प्रभाव था। विद्यालयों में कोमलकलेवरा बालिकाओं को भी हमें चूमना पड़ता था। यहाँ तक कि उन्हें हमारा प्रयोग करनेवालों का अभिवादन भी करना पड़ता था। फ्रांस मे तो हमने पवित्रहृदया कामिनियों के कर-कमलों को भी पवित्र किया था। आपको इस बात का विश्वास न हो तो एक प्रमाण लीजिए। "रोमन-डि-लारोज" नामक काव्य में कविवर क्लपिनेले ने स्त्रियों के विरुद्ध चार सतरें लिख मारी है। उनका भावार्थ कवि पोप के शब्दों में है—"Every woman is at heart a rake" इस उक्ति को सुनकर कुछ सम्मानीय महिलाएँ बेतरह कुपित हो उठीं। एक दिन उन्होंने कवि को अपने कब्जे में पाकर उसे सुधारना चाहा। तब यह देखकर कि इनके पंजों से निकल भागना असंभव है, कवि ने कहा—"मैंने जरूर अपराध किया है। अतएव मुझे सजा भोगने में कुछ भी उज्र नहीं। पर मेरी एक प्रार्थना है। वह यह कि उस उक्ति को पढ़कर जिस महिला को सबसे अधिक बुरा लगा हो वही मुझे पहले दंड दे।" इसका फैसला कोई स्त्री न कर सकी। फल यह हुआ कि कवि पिटने से बच गया।

रूस में भी हमारा आधिपत्य रह चुका है। वहाँ तो सभी प्रकार के अपराध करने पर साधारण दंड या कशादंड से प्रायश्चित्त कराया जाता था। क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या राजकर्मचारी, क्या साधारण जन, सभी को—अपराध करने पर—हमारा अनुग्रह ग्रहण करना पड़ता था। किसान तो हमारी कृपा के सबसे अधिक पात्र थे। उन पर तो, जो चाहता था वही, निःशंक और निःसंकोच, हमारा प्रयोग करता था। हमारा प्रसाद पाकर वे बेचारे चुपचाप चल देते थे और अपना क्रोध अपनी पत्नियों और पशुओं पर प्रकट करते थे। रूस के अमीरों और धनवानों से हमारी बड़ी ही गहरी मित्रता थी। दोष-दमन करने में वे सिवा हमारे और किसी की भी सहायता, कभी भूलकर भी, न लेते थे। उनका ख्याल था कि अपराधियों को अधमरा करने के लिये ही भगवान् ने हमारी सृष्टि की है।

रूस में तो, पूर्वकाल में, दंडाघात प्रेम का भी चिह्न माना जाता था। विवाहिता वधुएँ अपने पतियों से हमी को पाने के लिये सदा लालायित रहती थी। यदि स्वामी, बीच बीच में, अपनी पत्नी का दंड-दान नामक आदर न करता तो पत्नी समझती कि उसके स्वामी का प्रेम उस पर कम होता जा रहा है। यह प्रथा केवल नीच या छोटे लोगों ही में प्रचलित न थी, बड़े बड़े घरों में भी इसका पूरा प्रचार था। वर्कले नाम के लेखक ने लिखा है कि रूस में दंडाघातो की न्यूना-

धिक-संख्या ही से प्रेम की न्यूनाधिकता की माप होती थी। इसके सिवा स्नानागारों में भी हमारा प्रबल प्रताप छाया हुआ था। स्नान करनेवालों का समस्त शरीर ही हमारे अनुग्रह का पात्र बनाया जाता था। स्टिफेंस साहब ने इसका विस्तृत विवरण लिख रखा है। विश्वास न हो तो उनकी पुस्तक देख लीजिए।

हमारे संबंध में तुम अमेरिका को पिछड़ा हुआ कहीं मत समझ बैठना। वहाँ भी हमारा प्रभाव कम न था। बालकों और बालिकाओं का गार्हस्थ्य जीवन वहाँ हमारे ही द्वारा नियंत्रित होता था प्यूरिटन नाम के क्रिश्चियन-धर्म्म-संप्रदाय के अनुयायियों के प्रभुत्व के समय लोगों को बात बात में कशाघात की शरण लेनी पड़ती थी। क्वेकर-संप्रदाय को देश से दूर निकालने में अमेरिका के निवासियों ने हमारी खूब ही सहायता ली थी। हमारा प्रयोग बड़े ही अच्छे ढंग से किया जाता था। काठ के एक तख्ते पर अपराधी बाँध दिया जाता था। फिर उस पर सड़ासड़ बेत पड़ते थे।

अफरीका की तो कुछ पूछिए ही नहीं। वहाँ तो पहले भी हमारा अखंड राज्य था और अब भी है। यह एक देश ऐसा है जिसने हमारे महत्त्व को पूर्णतया पहचान पाया है। बच्चों की शिक्षा से तो हमारा बहुत ही घनिष्ठ संबंध था। वहाँ के लोगों का विश्वास था कि हमारा आगमन स्वर्ग से हुआ है और हम ईश्वर के आशीर्वाद रूप हैं। हम नहीं, तो समझना

चाहिए कि परमेश्वर ही रूठा है। मिस्रवाले तो इस प्रवाद पर आँख-कान बंद करके विश्वास करते थे। वहाँ के दीन-वत्सल महीपाल प्रजावर्ग को इस आशीर्वाद का स्वाद बहुधा चखाया करते थे। इस राज्य में बिना हमारी सहायता के राज-कर वसूल होना प्रायः असम्भव था। मिस्र के निवासी राजा का प्राप्य अंश, कर, अदा करना न चाहते थे। इस कारण हमें उन पर सदा ही कृपा करनी पड़ती थी। उनकी पीठ पर हमारे जितने ही अधिक चिह्न बन जाते थे वे अपने को उतने ही अधिक कृतज्ञ या कृतार्थ समझते थे।

अफरीका की असभ्य जातियों में स्त्रियों के ऊपर हमारा बड़ा प्रकोप रहता था। ज्योंही स्वामी अपनी स्त्री के सतीत्व-रत्न को जाते देखता था त्योंही वह हमारी पूर्ण तृप्ति करके उस कुलकलंकिनी को घर से निकाल बाहर करता था। कभी कभी स्त्रियाँ भी हमारी सहायता से अपने अपने स्वामियों की यथेष्ट खबर लेती थीं। अफरीका के पश्चिमी प्रांतों में यद्यपि बालक-बालिकाओं पर हमारा विशेष प्रभाव न था तथापि उन्हें हमसे भी अधिक प्रभावशाली व्यक्तियों का सामना करना पड़ता था। नटखट और दुष्ट लड़कों और लड़कियों की आँखों में लाल मिर्च मल दी जाती थी। वे बेचारे इस योजना का कष्ट सहन करने में असमर्थ होकर घंटों छटपटाते और चिल्लाते थे। वयस्कों को तो इससे भी अधिक यातनाएँ भोगनी पड़ती थीं। ये पहले पेड़ों की डालों से लटका दिए जाते

थे। फिर खूब पीटे जाते थे। देह लोहू-लोहान हो जाने पर उस पर सर्वत्र लाल मिर्च का चूर्ण मला जाता था। याद रहे, ये सब पुरानी बातें हैं। आजकल की बातें हम नहीं कहते; क्योंकि हमारे प्रयोग में यद्यपि इस समय कुछ परिवर्तन हो गया है, तथापि हमारा कार्यक्षेत्र घटा नहीं, बढ़ा ही है।

तुम्हारे एशिया-खंड में भी हमारा राज्य दूर दूर तक फैला रहा है। एशिया कोचक (एशिया माइनर) के यहूदियों में, किसी समय, हमारी बड़ी धाक थी। वहाँ हमारा प्रताप बहुत ही प्रबल था। ईसाई धर्म फैलाने में सेंट पाल नामक धर्माचार्य्य ने बड़े बड़े अत्याचार सहे हैं। वे ४६ दफे कशाहत और ३ दफे दंडाहत हुए थे। बाइबिल में हमारे प्रयोग का उल्लेख सैकड़ों जगह आया है।

यहूदियों की तरह पारसियों में भी हमारा विशेष आदर था। क्या धनी, क्या निर्धन सभी को-यदा-कदा-डंडों की मार सहनी पड़ती थी। यह चाल बहुत समय तक जारी रही। तदनंतर वह बदल गई। तब माननीय मनुष्यों के शरीर की जगह उनके कपड़ों पर कोड़े लगाए जाने लगे। चीन में तो हमारा आधिपत्य एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक फैला हुआ था। ऐसा एक भी अपराधी न था जिसे सजा देने में हमारा प्रयोग न होता रहा हो। उच्च राज-कर्मचारियों से लेकर दीन-दुखी भिखारियों तक को, अपराध करने पर, हमारे अनुग्रह का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से करना पड़ता था। दंड की

मार खाने में, उस समय, चीनी लोग अपना अपमान न समझते थे। हाँ, हमारे कृपा-कटाक्ष से उन्हें जो यंत्रणा भोगनी पड़ती थी उसे वे जरूर नापसंद करते थे। बड़े बड़े सेना-नायक और प्रांत-शासक हमारे कठोर अनुग्रह को प्राप्त करके भी अपने उच्च पदों पर प्रतिष्ठित रहते थे। चीन मे अपराधियों ही तक हमारे कोप की सीमा बद्ध न थी। कितने ही निर-पराध जन भी हमारे स्पर्श-सुख का अनुभव करके ऐसे गद्गद हो जाते थे कि फिर जगह से उठ तक न सकते थे। हमारी पहुँच बहुत दूर दूर तक थी। चोरो, डाकुओ और हत्यारों आदि को जब कोतवाल और पुलिस के अन्य प्रतापी अफसर न पकड़ सकते थे तब वे हमारी शरण आते थे। उस समय हम उन पर ऐसा प्रेम दरसाते थे कि उछल उछलकर उनकी देह पर जा पड़ते थे। चीन की पुरानी अदालतों में जितने अभियुक्त और गवाह आते थे वे बहुधा बिना हमारा प्रसाद पाए न लौट सकते थे।

चतुर और चाणाक्ष चीन के अद्भुत कानून की बात कुछ न पूछिए। वहाँ अपराध के लिये अपराधी ही जिम्मेदार नही। उसके दूर तक के संबंधी भी जिम्मेदार समझे जाते थे। जो लोग इस जिम्मेदारी का खयाल न करते थे उन्हे स्वयं हम पुरस्कार देते थे। चीन में एक सौ परिवारो के पीछे एक मंडल की स्थापना होती थी। उसकी जिम्मेदारी भी कम न होती थी। यदि कोई व्यक्ति अपने फिरके के सौ कुटुंबों का

कोई अपराध करता तो उसके बदले में मंडल सजा पाता था। देव-सेवा के लिये रखे गए शूकर-शावक बीमार या दुबले हो जाते हो प्रति शावक के लिये तत्वावधायक पर पचास डंडे लगते थे।

चीनी की विवाह-विधि में भी हमारी विशेष प्रतिपत्ति थी। पुत्र-कन्या की सम्मति लिए बिना ही उनका पहला पाणिग्रहण कराने का अधिकार माता-पिता को प्राप्त था। परतु दूसरा विवाह वे न करा सकते थे। यदि वे इस नियम का उल्लंघन करते तो उन पर तड़ातड़ अस्सी डंडे पड़ते थे। विवाह-संबंध स्थिर करके यदि कन्या का पिता उसका विवाह किसी और वर के साथ कर देता तो उसे भी अस्सी डंडे खाने पड़ते। जो लोग अशौच-काल मे विवाह कर लेते थे उनकी पूजा पूरे एक सौ दडाघातों से की जाती थी। स्वामी के जीवन-काल ही में जो रमणियाँ सम्राट् द्वारा सम्मानित होतीं, वे, विधवा होने पर, पुनर्विवाह न कर सकती थी। यदि कोई अभागिनी इस कानून को तोड़ती तो उसे पुरस्कृत करने के लिये हमें सौ वार उसके कोमल कलेवर का चुंबन करना पड़ता।

ये हुई पुरानी बाते। अपना नया हाल सुनाना हमारे लिये, इस छोटे से लेख मे, असंभव है। अब यद्यपि हमारे उपचार के ढंग बदल गए हैं और हमारा अधिकार-क्षेत्र कहीं कहीं संकुचि हो गया है, तथापि हमारी पहुँच नई नई जगहों में हो गई है। आजकल हमारा आधिपत्य केनिया,

ट्रांस्वाल, केप कालनी आदि विलायतों में सबसे अधिक है। वहाँ के गोरे कृषक हमारी ही सहायता से हवशी और अन्य देशीय कुलियों से बारह बारह सोलह सोलह घंटे काम कराते हैं। वहाँ काम करते करते, हमारा प्रसाद पाकर, अनेक सौभाग्यशाली कुली समय के पहले ही स्वर्ग सिधार जाते हैं। फोजी, जमाइका, गायना, मारिश आदि टापुओं में भी हम खूब फूल-फल रहे हैं। जीते रहें गन्ने की खेती करनेवाले गौरकाय विदेशी। वे हमारा अत्यधिक आदर करते हैं; कभी अपने हाथ से हमें अलग नहीं करते। उनकी बदौलत ही हम कुलियों की पीठ, पेट हाथ आदि अंग-प्रत्यंग छू छूकर कृतार्थ हुआ करते हैं—अथवा कहना चाहिए कि हम नहीं हमारे स्पर्श से वही अपने को कृतकृत्य मानते हैं। अंडमन टापू के कैदियों पर भी हम बहुधा जोर-आजमाई करते हैं। इधर भारत के जेलों में भी, कुछ समय से हमारी विशेष पूछ-पाछ होने लगी है। यहाँ तक कि पढ़े लिखे कैदी भी हमारे संस्पर्श से अपना परित्राण नहीं कर सकते। कितने ही असहयोगी कैदियों की अक्ल हमी ने ठिकाने लगाई है।

हम और सब कहीं की बातें तो बता गए, पर इँगलैंड के समाचार हमने एक भी नहीं सुनाए। भूल हो गई। क्षमा कीजिए। खैर तब न सही, अब सही। सूद में अब हम भारत-वर्ष का भी कुछ हाल सुना देंगे। सुनिए—

लक्ष्मी और सरस्वती की विशेष कृपा होने से इँगलैंड

अब उन्नत और सभ्य हो गया है। ये दोनों ठहरी स्त्रियाँ। और स्त्रियाँ बलवानों ही को अधिक चाहती हैं; निर्बलों को नहीं। सो बलवान होना बहुत बड़ी बात है। सभ्यता और उन्नति का विशेष आधार पशुबल ही है। हमारी इस उक्ति को सच समझिए और गाँठ मे मजबूत बाँधिए। सो सभ्य और समुन्नत होने के कारण इँगलैंड मे अब हमारा आदर कम होता जाता है। तिस पर भी कशादंड का प्रचार वहाँ अब भी खूब है। कोड़े वहाँ अब भी खूब बरसते है। वहाँ के विद्यालयो में हमारी इस मूर्ति की पूजा बड़े भक्ति-भाव से होती है। हमारा प्रभाव घोड़े की पीठ पर जितना देखा जाता है उतना अन्यत्र नहीं। इसके सिवा सेना में भी हमारा सम्मान अभी तक थोड़ा बहुत बना हुआ है।

भारतवर्ष में तो हमारा एकाधिपत्य ही सा है। भारत अपाहिज है। इसी लिये भारतवासी हमारी मूर्ति को बड़े आदर से अपनी छाती से लगाए रहते है। वे डरते है कि न हो जो कहीं धन-मान की रक्षा का एकमात्र बचा खुचा यह साधन भी छिन जाय। इसी से हम पर उन लोगों का असीम प्रेम है। भारतवासी असभ्य और अनुन्नत होने पर भी विलासप्रिय कम हैं। इसी लिये वे ऋषियो और मुनियों द्वारा पूजित हम दड-देव के आश्रय में रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं। शिक्षकों का बेत या कमची, सवारों का हंटर, कोचमैनों का चाबुक, गाड़ीवानो को औगी या छड़ी, शुहदों के लट्ठ,

शौकीन बाबुओं की पहाड़ी लकड़ी, पुलिसमैनों के डडे, बूढ़े बाबा की कुबड़ी, भँगेड़ियों के भवानीदीन और लठैतों की लाठियाँ आदि सब क्या है ? ये सब हमारे ही तो रूप हैं। ये सभी, शासन-कार्य्य मे सहायक होते है। भारत मे ऐसे हजारों आदमी हैं जिनकी जीविका के आधार एकमात्र हम हैं। थाना नाम के देवस्थानों मे हमारी ही पूजा होती है। हमारी कृपा और सहायता के बिना हमारे पुजारी (पुलिस-मैन) एक दिन भी अपना कर्तव्यपालन नहीं कर सकते। भारत मे तो एक भी पहले दरजे का मैजिस्ट्रेट ऐसा न होगा जिसकी अदालत के अहाते मे हमारे उपयोग की योजना का पूरा पूरा प्रबंध न हो। जेलों मे भी हमारी शुश्रूषा सर्वदा हुआ करती है। इसी से हम कहते है कि भारत मे तो हमारा एकाधिपत्य है।

बहुत समय हुआ, हमने अपने अपूर्व, अलौकिक और कौतूहलोद्दीपक चरित का सारांश "प्रदीप" के पाठको को सुना-कर उन्हें मुग्ध किया था। उसे बहुत लोग शायद भूल गए हो। इससे उसकी पुनरावृत्ति आज हमे करनी पड़ी। पाठक, हम नहीं कह सकते कि हमारा यह चारुचरित सुनकर आप भी मुग्ध हुए या नहीं। कुछ भी हो, हमने अपना कर्तव्य कर दिया। आप प्रसन्न हो, या न हो; पर इससे हम कितने प्रसन्न हैं, यह हम लिख नहीं सकते।

धीर

[राय कृष्णदास]

जो धीर हैं, जो उद्वेग-रहित है, वही संसार में कुछ कर सकते हैं। जो लोहे की चादर की भाँति जरा ही में गर्म हो जाते और जरा ही में ठंढे पड़ जाते हैं, उनके किए क्या हो सकता है? मसल है—जो बादल गरजते हैं, वे बरसते नहीं।

धीर पुरुष का मन समुद्र के समान होता है। वह गंभीर और अथाह होता है। समुद्र की तरह मर्यादा-पालन में उसकी यह दशा है कि आनंद और ऐश्वर्य रूपी अनेक नद, नदियाँ उसमें गिरती हैं; पर क्या मजाल जो वह जरा भी मर्यादा का उल्लंघन करे। उसकी परिपूर्णता को देखिए ताप-रूपी सूर्य दिन-रात उसे तपाया करते है। यही नहीं, चिंता-रूपी विचार-बड़वाग्नि दिन-रात उसी में जला करती है, पर उसमें जरा भी कमी नहीं होती। साथ ही, जिस समय उसमें कोई तूफान आ जाता है उस समय किसकी मजाल है जो उसे रोक सके। यह नहीं कि इधर पानी बरसा, उधर पहाड़ी

नदी उबल पड़ी। बीच में हाथी भी पड़ा तो बह चला, पर थोड़ी देर में पानी नदारद, हाथी ज्यों का त्यों बच गया।

एक बड़ा भारी दार्शनिक कहता है—चाहे युद्ध हो, चाहे मरण ही क्यों न हो—जिसका मन ऐसे समयों में भी हिमाचल की तरह अचल रहता है, वही धीर है। अहा, कितनी अच्छी परिभाषा है। सचमुच, जिसका मन जरा से सुख या दुःख से उद्विग्न हो गया, वह क्या कर सकेगा? कैसा ही समय क्यों न आ पड़े, कैसी ही भारी बात क्यों न हो जाय, जिस पुरुष का मन निश्चल रहता है—जिसका मन बाल भर भी नहीं डिगता—वही कालचक्र की गति को बदल सकता है। वही संसार के वीरों में गिना जाता है। वही संसार में कुछ कर गुजरता है। उसी का नाम सारी जाति सच्चे आदर से लेती है। उसी का नाम इतिहासों में अजरामर हो जाता है।

एक बार नेपोलियन से, जब वह योरप फतह कर रहा था, किसी ने कहा—महाराज, आल्प्स (पर्वत) सामने खड़ा है; सेना क्योंकर उसके दूसरी ओर जायगी? उस धीर के मन में जरा भी उद्वेग न हुआ। उसने जवाब दिया—"हाँ, ऐसी बात है। आल्प्स को भी मालूम हो जायगा कि नेपो-लियन इधर से ही गया।" आदेश हुआ—"आल्प्स न रह जाय।" धीर का आदेश भला कहीं टल सकता था। यह तो था नहीं कि कभी यह बात, कभी वह बात। वहाँ तो जबान से जो निकला सो निकला। बस, आल्प्स नहीं रह गया।

मानसिंह ने बरसात के दिनों में काबुल पर चढ़ाई की। अटक (सिंधु) खूब बढ़ी हुई थी। पार करने के लिये कोई पुल न था। साथ ही कुछ लोगों ने कहा कि अटक का पार जाना शास्त्र-सम्मत नहीं, पर क्या इससे प्रशांत-सागर सदृश मन डावाँडोल हो सकता था ? पर्वत भी प्रलय-वायु से हिल जाते हैं; पर निश्चल मन कभी नहीं हिलता। निदान मान ने कहा—

सबै भूमि गोपाल की यामें अटक कहा।
जाके मन में अटक है सोई अटक रहा॥

जरा इस पद्य के दूसरे चरण पर ध्यान दीजिए। देखिए, कैसा विलक्षण भाव टपक रहा है। अस्तु, मान ने अपना घोड़ा सिंधु में डाल दिया। कहते हैं, सिंधु नदी उतर गई और घुटनों तक ही पानी रह गया। आखिर तो बरसात में नदी हुई नदी न! धीर के मन के सामने भला वह कब ठहर सकती थी। याद रखिए, यदि मान में इतना धैर्य न होता तो वह ऐसे दुर्जय स्थान को जीत न सकता।

बाबर जब इब्राहीम लोदी पर चढ़ाई कर रहा था, तब उससे एक नजूमी ने कहा कि सामने मंगल है। आप चढ़ाई न करिए, नहीं तो हार जायँगे। पर, इससे क्या होने को था। यदि वह धीर ऐसी बातों से डर जाता तो भला भारत में इतना बड़ा मुगल-राज्य स्थापित कर सकता! अस्तु, उसने चढ़ाई कर दी। उसमें उसी की जीत हुई।

महाराज प्रतापसिंह को सत्ताइस बरस तक कैसे कैसे कष्ट उठाने पड़े, क्या क्या विपत्तियाँ उन पर नहीं आईं, क्या क्या दु:ख उन्हें नहीं उठाने पड़े; पर, क्या इससे धीर का स्वरूप बदल सकता था ! भला कड़ी से कड़ी धूप से तप्त होकर भी बरफ कहीं शीतता छोड़ सकती है। एक कवि कहता है—

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेरधः शिखा याति कदाचिदेव ॥

अर्थात्—धीर पर दुःख पड़ने से उसका धैर्य-गुण थोड़े ही दूर हो सकता है। जलती आग को यदि उलट दीजिए तो भी उसकी शिखा ऊपर ही को जायगी, नीचे को नहीं।

धीर का प्रधान लक्षण है—

जलाहतौ विशेषेण विद्युदग्नेरिव द्युतिः ।
आपदि स्फुरति प्रज्ञा यस्य धीरः स एव हि ॥

—कथा-सरित्सागर

अर्थात्—जलाहत विद्युदग्नि के समान विपत्ति में जिसकी प्रज्ञा की द्युति बढ़ती जाती है, वही धीर है।

कैसी पते की उक्ति है ! प्रताप का धैर्य उन विपत्तियों से दिन दिन बढ़ता ही गया। जैसे जैसे उन्हें कष्ट झेलना पड़ा, जैसे जैसे उनकी उलझनें जटिल होती गईं, वैसे वैसे उनके धैर्य की जड़ मजबूत पड़ती गई। धैर्यरूपी वृक्ष को विपत्ति ही खाद है, वही धैर्य की कसौटी है। तभी न गुसाईं जी कहते हैं—

धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी।
आपत-काल परिखिए चारी॥

यों, सुख में तो धीरता का अभिनय सभी कर सकते हैं। पर संसार के किसी अनर्थकारी कृत्य को देखकर यदि किसी धीर महात्मा का हृदय जल उठता है तो फिर क्या पूछना है, मानो बाकू के मिट्टी के तेल की खान में आग लग गई, बिना उस अनर्थ का नाश किए, वह जलन बुझने की नहीं। भला ब्रह्मास्त्र भी कहीं बेकार जा सकता है। जरा एक दृश्य इस तरह का भी देखिए।

हजरत ईसा मसीह ने जिस समय जेरुसलम में जन्म लिया उस समय वहाँ की क्या दशा थी, यह इतिहास-प्रेमियों को अविदित नहीं। चारों ओर अधर्म फैल रहा था, चारों ओर अनर्थ और अविद्या का प्राबल्य था, सज्जन कष्ट में पड़े हुए थे, दुर्जनों की उन्नति हो रही थी। इस अंधेर को देखकर उस महात्मा का जी जल उठा। उसे यह सब असह्य होने लगा। बस फिर क्या था? उस धीर ने इस अधर्म-चक्र की गति को उलटने की ठान ली। इस गति को फेरना शुरू कर दिया। दुरात्माओं को मालूम हो गया कि कोई अलौकिक शक्ति काम कर रही है। अनेक विरोधी खड़े हो गए। उन लोगों ने चाहा कि पापचक्र की गति न रुकने पावे, वह ज्यों की त्यों बनी रहे। लाख लाख उद्योग किए गए, पर उन सबसे

क्या हो सकता था ? जो स्वयं अधीर हैं, जो खुद ही चंचल हैं, जिनका मन सदा ही सरपट दौड़ा करता है, भला उनकी क्या मजाल जो संसार-चक्र की गति के बदलने को रोक सके। पहले वे अपने मनचक्र का तो निग्रह कर लें, फिर संसार-चक्र का निग्रह करेंगे। अस्तु, ऐसे ही दुर्जनो ने ईसा के आंदोलन को रोकना चाहा। धैर्य को अधीरता से जीतना चाहा। इसका नतीजा क्या हुआ ? अधर्म से धर्म की जीत न हो सकी। हाँ, थोड़े दिन के लिये अधर्म बल्कि यह कहिए कि पापचक्र की चाल और भी बढ़ गई। अत्याचार दिनोंदिन बढ़ने लगे। पापियों ने सोचा, अब हमारी जीत हुई मगर यह बात उन्हें न सूझी कि मरने के समय चींटों के पख निकल आया करते हैं। जब दीपक बुझने को होता है, तब उसका प्रकाश बढ़ जाता है। निदान, अत्याचांरो की बढ़ती यहाँ तक हुई कि हजरत धर्म-विद्रोही सिद्ध किए गए और उन्हें सूली चढ़ाने का शाही हुक्म हुआ। हर एक आदमी अपने मन से ससार को तौलता हैं। इस बादशाह ने भी ईसा को अपने मनोरूपी काँटे से तौला, इसलिये, वह अपने ही समान ईसा को भी अधीर समझ बैठा। उसे निश्चय था कि ईसा अब राह पर आ जायगा। मृत्यु का नाम सुनकर वह डर जायगा और ऊलजलूल बकवाद छोड़कर चुप हो बैठेगा। पर भला धीर भी कहीं मृत्यु से डरते हैं। मृत्यु को तो वे फूल के हार की तरह ग्रहण करते हैं। आत्मबलि ही से तो

उनके कार्य की सिद्धि होती है। ऐसे ही समय में तो उन्हें अपने सच्चे या झूठे होने का पता चलता है। ऐसे ही समय में दृढ़ रहने से तो उनकी उपाधि (धीर) सार्थक होती है। खैर, हजरत सूली पर चढ़ गए। उनके हाथ-पाँव में कीलें ठोक दी गईं। बस पापचक्र का यहीं खातमा हो गया। हजरत के हाथ-पाँव में कीलें नहीं ठोकी गईं, बल्कि पापचक्र में कीलें ठोंक दी गईं। एक धीर के आत्मोत्सर्ग से दुनिया के एक तिमिराच्छन्न हिस्से मे सत्य का प्रकाश हुआ; सत्यसूर्य का उदय हुआ। उसकी मृत्यु से एक मृत जाति जीवित हो उठी।

संसार के इतिहास मे धीरो के एक नहीं लाखों उदाहरण पाए जाते हैं। बिना धैर्य के अवलंब के, अनेक गुणो से विभूषित रहने पर भी, लोग कुछ नहीं कर सके है। धैर्य सदाचरण की पहली सीढ़ी है। बिना धैर्य के जगत् में कोई भी सदाचार की— उन्नति की—सोपान-परंपरा पर नहीं चढ़ सकता।

जो अधीर है भला वे क्या कर लेंगे। बरसाती तत्कालीन बादलो की तरह जिनके मन का रंग पल पल पर बदलता है, क्या उनका किया भी कुछ हो सकता है? उनके मनोरथ कभी पूरे नहीं हो सकते। राई सा दुःख उन्हे पहाड़ सा प्रतीत होता है। उसे वे सह नहीं सकते। उसके कारण उन्हें अनेक आधि-व्याधियाँ घेर लेती हैं।

विना धीर हुए, बड़ी से बड़ी आपत्तियो को झेलते हुए भी सुख एवं आरोग्यतापूर्वक लोकयात्रा कोई पूरी नहीं कर सकता। विना धीर हुए कोई संसार-समर को जीत नही सकता। कोई संसार की या अपनी उन्नति नहीं कर सकता। सबका निष्कर्ष यह है कि जो धीर नही, वह कुछ कर ही नही सकता। इसलिये संसार में यदि कुछ करने की इच्छा हो तो धीर बनो।

बातचीत

[पं० बालकृष्ण भट्ट]

इसे तो सभी स्वीकार करेंगे कि अनेक प्रकार की शक्तियो में, जो वरदान की भाँति ईश्वर ने मनुष्यो को दी हैं, वाक्शक्ति भी एक है। यदि मनुष्य की और और इंद्रियाँ अपनी अपनी शक्तियो से अविकल रहती और वाक्शक्ति उसमें न होती तो हम नहीं जानते कि इस गूँगी सृष्टि का क्या हाल होता। सब लोग लुंज-पुंज से हो मानो कोने में बैठा दिए गए होते और जो कुछ सुख-दुःख का अनुभव हम अपनी दूसरी दूसरी इंद्रियों के द्वारा करते उसे, अवाक् होने के कारण आपस में एक दूसरे से कुछ न कह सुन सकते। इस वाक्शक्ति के अनेक फायदो मे "स्पीच" (वक्तृता) और बातचीत दोनों है। किंतु स्पीच से बातचीत का कुछ ढंग ही निराला है। बातचीत में वक्ता को नाज-नखरा जाहिर करने का मौका नही दिया जाता कि वह एक बड़े अंदाज से गिन गिनकर पाँव रखता हुआ पुलपिट पर जा खड़ा हो और पुण्याहवाचन या नांदीपाठ की भाँति घड़ियों तक साहबान मजलिस, चेयरमैन, लेडीज़ एंड

जेंटिलमेन की बहुत सी स्तुति कर कराय तब किसी तरह वक्तृता का आरंभ करे। जहाँ कोई मर्म या नोक की चुटीली बात वक्ता महाशय के मुख से निकली कि तालि-ध्वनि से कमरा गूँज उठा। इसलिये वक्ता को खामखाह ढूँढ़कर कोई ऐसा मौका अपनी वक्तृता में लाना ही पड़ता है जिसमे करतल-ध्वनि अवश्य हो।

वही हमारी साधारण बातचीत का कुछ ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतलध्वनि का कोई मौका है न लोगों को कहकहे उड़ाने की काई बात उसमे रहती है। हम-तुम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे है। कोई चुटोली बात आ गई, हस पड़े तो मुसकराहट से ओठो का केवल फरक उठना ही इस हँसी को अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य अपने सुननेवालो के मन मे जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें स्पीच की वह सब सजीदगी बेकदर हो धक्के खाती फिरती है।

जहाँ आदमी को अपनी जिदगी मजेदार बनाने के लिये खाने, पीने, चलने, फिरने आदि की जरूरत है वहाँ बातचीत की भी हमको अत्यंत आवश्यकता है। जो कुछ मवाद या धुवाँ जमा रहता है वह बातचीत के जरिए भाफ बन बाहर निकल पड़ता है। चित्त हलका और स्वच्छ हो परम आनंद में मग्न हो जाता है। बातचीत का भी एक खास तरह का मजा होता है। जिनको बातचीत करने की लत पड़ जाती है

वे इसके पीछे खाना-पीना भी छोड़ देते हैं। अपना बड़ा हर्ज कर देना उन्हें पसंद आता है पर बातचीत का मजा नहीं खोया चाहते। राबिंसन क्रूसो का किस्सा बहुधा लोगों ने पढ़ा होगा जिसे सोलह वर्ष तक मनुष्य का मुख देखने को भी नहीं मिला। कुत्ता, बिल्ली आदि जानवरों के बीच में रह १६ वर्ष के उपरांत उसने फ्राइडे के मुख से एक बात सुनी। यद्यपि इसने अपनी जंगली बोली में कहा था पर उस समय राबिंसन को ऐसा आनंद हुआ मानों इसने नए सिरे से फिरके आदमी का चोला पाया। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य की वाक्-शक्ति में कहाँ तक लुभा लेने की ताकत है। जिनसे केवल पत्र-व्यवहार है, कभी एक बार भी साक्षात्कार नहीं हुआ उन्हें अपने प्रेमी से कितनी लालसा बात करने की रहती है। अपना आभ्यंतरिक भाव दूसरे को प्रकट करना और उसका आशय आप ग्रहण कर लेना केवल शब्दों ही के द्वारा हो सकता है। सच है—

"तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किंचिन्न भाषते"

बेन जानसन का यह कहना, कि बोलने ही से मनुष्य के रूप का साक्षात्कार होता है, बहुत ही उचित बोध होता है।

इस बातचीत की सीमा दो से लेकर वहाँ तक रखी जा सकती है जितनों की जमात मीटिंग या सभा न समझ ली जाय। एडिसन का मत है कि असल बातचीत सिर्फ दो में हो सकती है। जिसका तात्पर्य यह हुआ कि जब दो आदमी

होते हैं तभी अपना दिल एक दूसरे के सामने खोलते हैं। जब तीन हुए तब वह दो की बात कोसो दूर गई। कहा है —

"षट्कर्णो भिद्यते मंत्रः"

दूसरे यह कि किसी तीसरे आदमी के आ जाते ही या तो वे दोनो हिजाब में आ अपनी बातचीत से निरस्त हो बैठेंगे या उसे निपट मूर्ख और अज्ञानी समझ बनाने लगेंगे। इसी से

"द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्"

लिखा है। जैसे गरम दूध और ठंढे पानी के दो बरतन पास सॉट के रखे जायँ तो एक का असर दूसरे मे पहुँचता है अर्थात् दूध ठंढा हो जाता है और पानी गरम, वैसे ही दो आदमी पास बैठे हो तो एक का गुप्त असर दूसरे पर पहुँच जाता है, चाहे एक दूसरे को देखे भी नहीं। तब बोलने की कौन कहे। पर एक का दूसरे पर असर होना शुरू हो जाता है। एक के शरीर की विद्युत् दूसरे में प्रवेश करने लगती है। जब पास बैठने का इतना असर होता है तब बातचीत मे कितना अधिक असर होगा इसे कौन न स्वीकार करेगा। अस्तु, अब इस बात को तीन आदमियों के समय मे देखना चाहिए। मानो एक से त्रिकोण सा बन जाता है। तीनो का चित्त मानों तीन कोण हैं और तीनों की मनोवृत्ति के प्रसरण की धारा मानो उस त्रिकोण की तीन रेखाएँ हैं। गुपचुप असर तो उन तीनो में परस्पर होता ही है। जो बातचीत तीनो मे की गई वह मानो अँगूठी में नग सी जड़ जाती है, उपरांत जब चार आदमी हुए तब बेतकल्लुफी

को बिल्कुल स्थान नहीं रहता। खुलके बातें न होंगी। जो कुछ बातचीत की जायगी वह "फार्मेलिटी", गौरव और संजीदगी के लच्छे में सनी हुई। चार से अधिक की बातचीत तो केवल रामरमौवल कहलावेगी। उसे हम संलाप नहीं कह सकते। इस बातचीत के अनेक भेद हैं। दो बुड्ढों की बातचीत प्रायः जमाने की शिकायत पर हुआ करती है। बाबा आदम के समय का ऐसा दास्तान शुरू करते हैं जिसमे चार सच तो दस झूठ। एक बार उनकी बातचीत का घोड़ा छूट जाना चाहिए, पहरों बीत जाने पर भी अंत न होगा। प्रायः अंगरेजी राज्य, परदेश और पुराने समय की बुरी से बुरी रीति-नीति का अनुमोदन और इस समय के सब भाँति लायक नौजवानों की निंदा उनकी बातचीत का मुख्य प्रकरण होगा। पढ़े-लिखे हुए तो शेक्सपियर, मिलटन, मिल और स्पेंसर उनकी जीभ के आगे नाचा करेंगे। अपनी लियाकत के नशे में चूर चूर 'हमचुनी दीगरे-नेस्त'। अक्खड़ कुश्तीबाज हुए तो अपनी पहलवानी और अपने अक्खड़पन की चर्चा छेड़ेंगे। आशिकतन हुए तो अपनी अपनी प्रेमपात्री की प्रसंशा तथा आशिकतन बनने की हिमाकत की डींग मारेंगे। दो ज्ञात-यौवना हम-सहेलियों की बातचीत का कुछ जायका ही निराला है। रस का समुद्र मानो उमड़ा चला आ रहा है। इसका पूरा स्वाद उन्हीं से पूछना चाहिए जिन्हें ऐसों की रससनी बातें सुनने को कभी भाग्य लड़ा है।

ऊर्द्धजरती बुढ़ियों की बातचीत का मुख्य प्रकरण, बहू-

बेटीवाली हुई तो, अपनी बहुओं या बेटों का गिल्ला-शिकवा होगा या बिरादराने का कोई ऐसा रामरसरा छेड़ बैठेगी कि बात करते करते अंत मे खोढ़े दाँत निकाल लड़ने लगेगी। लड़कों की बातचीत, खिलाड़ी हुए तो, अपनी अपनी आवारगी की तारीफ करने के बाद कोई ऐसी सलाह गाँठेगे जिसमें उनको अपनी शैतानी जाहिर करने का पूरा मौका मिले। स्कूल के लड़को की बातचीत का उद्देश्य अपने उस्ताद की शिकायत या तारीफ या अपने सहपाठियो में किसी के गुन औगुन का कथोपकथन होता है। पढ़ने में तेज हुआ तो कभी अपने मुकाबले दूसरे को फौकौयत न देगा। सुस्त और बोदा हुआ तो दबी विल्ली का सा स्कूल भर को अपना गुरु ही मानेगा। अलावा इसके बातचीत की और बहुत सी किस्में हैं। राज-काज की बात, व्यापार-संबंधी बातचीत, दो मित्रो में प्रेमालाप इत्यादि। हमारे देश मे नीच जाति के लोगों में बतकही होती है। लड़की लड़केवाले की ओर से एक एक आदमी बिच-वई होकर दोनो के विवाह-संबंध की कुछ बातचीत करते हैं। उस दिन से बिरादरीवालो को जाहिर कर दिया जाता है कि अमुक की लड़की का अमुक के लड़के के साथ विवाह पक्का हो गया और यह रसम बड़े उत्सव के साथ की जाती है। एक चंडूखाने की बातचीत होती है, इत्यादि सब बात करने के अनेक प्रकार और ढंग हैं।

यूरोप के लोगो मे बात करने का हुनर है। "आर्ट आफ

कनवरसेशन" यहाँ तक बढ़ा है कि स्पीच और लेख दोनों इसे नहीं पाते। इसकी पूर्ण शोभा काव्य-कला-प्रवीण विद्वन्मंडली में है। ऐसे ऐसे चतुराई के प्रसंग छेड़े जाते हैं कि जिन्हें सुन कान को अत्यंत सुख मिलता है। सुहृद्-गोष्ठी इसी का नाम है। सुहृद्-गोष्ठी की बातचीत की यह तारीफ है कि बात करनेवालों की लियाकत अथवा पांडित्य का अभिमान या कपट कहीं एक बात में न प्रकट हो, वरन् जितने क्रम रसाभास पैदा करनेवाले सभों को बरकते हुए चतुर सयाने अपनी बातचीत को अक्रम रखते हैं वह हमारे आधुनिक शुष्क पंडितों की बातचीत में, जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं, कभी आवेगा ही नहीं। मुर्ग और बटेर की लड़ाइयों की झपटा-झपटी के समान जिनकी नीरस काँव काँव में सरस संलाप की तो चर्चा ही चलाना व्यर्थ है, वरन् कपट और एक दूसरे को अपने पांडित्य के प्रकाश से वाद में परास्त करने का संघर्ष आदि रसाभास की सामग्री वहाँ बहुतायत के साथ आपको मिलेगी। घंटे भर तक काँव काँव करते रहेंगे तो कुछ न होगा। बड़ी बड़ी कंपनी और कारखाने आदि बड़े से बड़े काम इसी तरह पहले दो-चार दिली दोस्तों की बातचीत ही से शुरू किए गए। उपरांत बढ़ते बढ़ते यहाँ तक बढ़े कि हजारों मनुष्यों की उससे जीविका और लाखों की साल में आमदनी उसमें है। पचीस वर्ष के ऊपरवालों की बातचीत अवश्य ही कुछ न कुछ सारगर्भित होगी, अनुभव और दूरंदेशी से

खाली न होगी और पचास से नीचे की बातचीत मे यद्यपि अनुभव, दूरदर्शिता और गौरव नहीं पाया जाता पर इसमें एक प्रकार का ऐसा दिल-बहलाव और ताजगी रहती है जिसकी मिठास उससे दसगुना अधिक चढ़ी-बढ़ी है। यहाँ तक हमने बाहरी बातचीत का हाल लिखा जिसमें दूसरे फरीक के होने की बहुत आवश्यकता है, बिना किसी दूसरे मनुष्य के हुए जो किसी तरह संभव नहीं है और जो दो ही तरह पर हो सकती है या तो कोई हमारे यहाँ कृपा करे या हमी जाकर दूसरे को सर्फराज करें। पर यह सब तो दुनियादारी है जिसमें कभी कभी रसाभास होते देर नही लगती, क्योंकि जो महाशय अपने यहाँ पधारें उनकी पूरी दिलजोई न हो सकी तो शिष्टाचार में त्रुटि हुई। अगर हमी उनके यहाँ गए तो पहले तो बिना बुलाए जाना ही अनादर का मूल है और जाने पर अपने मन माफिक बर्ताव न किया गया तो मानो एक दूसरे प्रकार का नया घाव हुआ। इसलिये सबसे उत्तम प्रकार बातचीत करने का हम यही समझते हैं कि हम वह शक्ति अपने में पैदा कर सकें कि अपने आप बात कर लिया करें। हमारी भीतरी मनोवृत्ति जो प्रतिक्षण नए नए रंग दिखाया करती है और जो वह प्रपचात्मक संसार का एक बड़ा भारी आइना है, जिसमे जैसी चाहो वैसी सूरत देख लेना कुछ दुर्घट बात नहीं है और जो एक ऐसा चमनिस्तान है जिसमें हर किस्म के बेलबूटे खिले हुए हैं। इस

चमनिस्तान की सैर में क्या कम दिलबहलाव है ? मित्रो का प्रेमालाप कभी इसकी सोलहवीं कला तक भी नही पहुँच सका। इसी सैर का नाम ध्यान या मनोयोग या चित्त को एकाग्र करना है जिसका साधन एक-दो दिन का काम नहीं, सालहासाल के अभ्यास के उपरांत यदि हम थोड़ा भी अपनी मनोवृत्ति स्थिर कर अजान हो अपने मन के साथ बातचीत कर सकें तो मानो अतिभाग्य। एक वाक्शक्ति मात्र के दमन से न जानिए कितने प्रकार का दमन हो गया। हमारी जिह्वा जो कतरनी के समान सदा स्वच्छंद चला करती है, उसे यदि हमने दबाकर काबू में कर लिया तो क्रोधादिक बड़े बड़े अजेय शत्रुओं को बिना प्रयास जीत अपने वश कर डाला। इसलिये अवाक् रहकर अपने आप बातचीत करने का यह साधन यावत् साधनों का मूल है, शांति का परमपूज्य मंदिर है, परमार्थ का एकमात्र सोपान है।

साहित्य और जीवन

[पंडित नंददुलारे वाजपेयी]

हमारी हिंदी में और अन्यत्र भी इन दिनों साहित्य और जीवन में घनिष्ठ संबंध स्थापित करने की जोरदार माँग बढ़ रही है। आज परिस्थिति ऐसी प्रवेगपूर्ण है कि इस माँग की खूब कद्र की जा रही है और खूब दाद दी जा रही है। स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थी बड़ी उमंग के साथ इस विषय के व्याख्यान सुनते और ताली बजाते हैं। लेखकगण घर के बाहर स्वदेशी लिबास में रहने में प्रतिष्ठा पाते हैं और समालोचकगण उत्कर्षपूर्ण साहित्यकार की अपेक्षा जेल का चक्कर लगा आनेवाले सैनिक साहित्यिक के बड़े गुण-गान करते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में जोशीले लेख छपते हैं जो जीवन और साहित्य को एकाकार करने के एक कदम और आगे बढ़कर लेखों को लेखकों के खून से सराबोर देखना चाहते हैं। एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न किया जाता है जो साहित्य-समीक्षा को जड़ से उखाड़ फेकने का सरंजाम करेगा और जीवन को नितांत उग्र और, संभव है, पाषंडपूर्ण भी

बना देगा। बंगाल में ऐसे ही विचार-प्रवाह के कारण महाकवि रवींद्रनाथ को, कियत्काल के लिये ही सही, धक्का उठाना पड़ा है और आज हिंदी में भी वही हवा चल रही है। हम जिस संकीर्ण वात्याचक्र में घिरे हुए साँस ले रहे हैं उसमें यदि साहित्य को राजनीतिक प्रोपेगंडा का साधन बनाया जाय तो यह स्वाभाविक है। ऐसा अन्य देशों में भी होता रहा है। पर इसे ही साहित्यिक समीक्षा की स्थिर कसौटी बनाने और इसी के अनुसार उपाधि-वितरण करने का हम समर्थन नहीं करेंगे। साहित्य और जीवन का संबंध देखने के लिये क्षणिक राष्ट्रीय आवश्यकताओं की परिधि से ऊपर उठने की आवश्यकता है। हम साहित्य के आकाश, में क्षितिज के पास के रक्तिम वर्ण ही को न देखें, संपूर्ण सौर-मंडल और उसके अपार विस्तार, अगणित रंग रूप के भी दर्शन करें। साहित्य की शब्दावली में हम क्षणिक यथार्थ को ग्रहण करने में लगकर वास्तविक यथार्थ का तिरस्कार न करें जो विविध आदर्शों से सुसज्जित है। हम साहित्य और जीवन का संबंध अत्यंत व्यापक अर्थ में मानें। देश और काल की सुविधा के ही मोह में न पड़ें।

साहित्य के साथ जीवन का संबंध स्थापित करने का आग्रह यूरोप में पिछली बार फ्रेंच राज्य-क्रांति के उपरांत किया गया और हमारे देश में, आधुनिक रूप में, यह अभी कल की वस्तु है। इँगलैंड में वर्ड्सवर्थ और फ्रांस में विक्टर ह्यूगो आदि

साहित्यकार इस विचार-शैली के आविर्भाव करनेवालों में हैं। आरंभ में इसका रूप अत्यंत समीचीन था। यूरोप का मध्य-कालीन जीवन अस्तंगत हो गया था। उसके स्थान में नवीन जीवन का उदय हुआ था, जिसके मूल में बड़ी ही सरल और सात्त्विक भावनाएँ थीं। नवीन जीवन के उपयुक्त ही नवीन समाज का विकास हुआ और इसी विकास के अनुकूल साहित्य में भी प्रकृति-प्रेम, सरल-जीवन आदि की भावनाएं देख पड़ी। यहाँ तक कृत्रिमता किंचित् नहीं थी। अँगरेजी साहित्य में मेथ्यू आर्नल्ड और वाल्टर पेटर जैसे दो समोत्तक—एक जीवन-पक्ष पर स्थिर होकर और दूसरा कला अथवा सौंदर्य-पक्ष पर मुग्ध होकर—समान रीति से कवियों की प्रशंसा कर सकते थे परंतु बहुत दिन ऐसे नहीं रह सके। शीघ्र ही यूरोप में राष्ट्रीयता और प्रादेशिक भावनाओं का विस्तार हुआ और रूस में समाज-संबंधी शक्तिशालिनी उत्क्रांति हुई। रूसी साहित्य को वहाँ के समाजवाद की सेवा में उपस्थित होना पड़ा, जिसके कारण उसकी स्वतंत्रता बनी न रह सकी। साहित्य अधिकांश में राष्ट्र के सामाजिक और राजनीतिक संघटनों का प्रयोग-साधन बन गया। नवीन युग की नवीन वस्तु के रूप में उसको बाजार अच्छा मिला और आज उसका सिक्का यूरोप ही नहीं भारत में भी धड़ाके से चल रहा है। परंतु इतना तो स्पष्ट है कि इस रूप में साहित्य परतंत्र सामाजिक जीवन की बंधी हुई लीक में चलने को बाध्य किया गया है। साहित्य और जीवन

का स्वभावसिद्ध संबंध सर्वथा मंगलमय है। पर क्या इस प्रकार का संबंध स्वभावसिद्ध कहा जा सकेगा? जीवन की स्वच्छंद धारा ही जहाँ बँधी हुई है वहाँ साहित्य तो शिकंजे में जकड़ा ही रहेगा। आज साहित्य और जीवन का संबंध जोड़ने के बहाने साहित्य को मिथ्या यथार्थ की जिस अँधेरी गली में ले चलने का उपक्रम किया जाता है, हम उसकी निंदा करते हैं।

साहित्य और जीवन का संबंध जोड़ने के सिलसिले में समीक्षकों ने साहित्यकार के व्यक्तिगत बाह्य जीवन से भी परिचित होने की परिपाटी निकाली। यातायात के सुलभ साधनों के रहते, सम्मिलन के सभी सुभीते थे। बस साहित्यकार को भी पब्लिकमैन बना दिया गया। साहित्यालोचन की जो पुस्तकें निकलीं उनमें यह आग्रह किया गया कि साहित्यकार की व्यक्तिगत जीवनी का परिचय प्राप्त किए बिना उसके मस्तिष्क और कला का विकास समझ में नहीं आ सकता। ऐतिहासिक अनुसंधानों के इस युग में यदि कवियों और लेखकों का अन्वेषण किया गया तो कुछ अनुचित नहीं। इस प्रणाली से बहुत से लाभ भी हुए। मस्तिष्क और कला के विकास का पता चला बहुत से पाखंडी प्रकाश में आए। परंतु जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियाँ इतनी बहुमुखी हैं कि इस संबंध में अधिक से अधिक सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, नहीं तो एक कलकतिया संपादकजी

की तरह 'सैनिक' और 'साहित्यिक' तथा 'आनंदभवन' और 'शांतिनिकेतन' के बीच में ही अटक रहने का भय है। 'सैनिक' होने से ही कोई साहित्य-समीक्षक की सराहना का अधिकारी नहीं बन सकता, क्योंकि 'सैनिक' बनने का पुरस्कार उसे जनता के साधुवाद अथवा व्यवस्था-सभा के सभासद के रूप में प्राप्त हो चुका है। साहित्यिक दृष्टि से 'सैनिकत्व' को स्वतः कोई महत्त्व नहीं। 'सैनिकत्व'—इस वाक्य का जो अंतरंग है, साहित्य के भीतर से सैनिक की आत्मा का जो प्रकाश है, वह हमारी स्तुति का विषय बनना चाहिए। साहित्य और जीवन का यह संबंध है जिसको हम साहित्य-समीक्षा की एक स्थायी कसौटी बना सकते हैं, पर हिंदी में लोग ऐसा नहीं करते। दुःख है। अंगरेजी साहित्य-समीक्षा में यह व्यक्तिगत चरित-चित्रण की परिपाटी काफी समय तक चली, पर हाल में इसका प्रयोग कम पड़ रहा है और शायद इसका त्याग किया जा रहा है। जीवन की जटिल अज्ञेयता से परिचित हो जाने पर आसाधारण असूक्ष्मदृष्टि आलोचक इस मार्मिक प्रणाली का त्याग कर दें, यह अच्छा ही है, नहीं तो साहित्य में बड़ा विषम भाव और बड़ा विद्वेष फैलने की आशंका है।

साहित्यकार को जीवन के संबंध में स्वतंत्र विचार रखने और भिन्न भिन्न साहित्य-सारणियों में चलने के अधिक से अधिक अधिकार मिलने चाहिएँ। उसके अध्ययन, उसकी

परिस्थिति और उसके विकास को हम सामयिक आवश्यकताओं और उस संबंध की अपनी धारणाओं से नहीं परख सकते। हमें उसकी दृष्टि से देखना और उसकी अनुभूतियों से सहानुभूति रखना सीखना होगा। हम कवियों और लेखकों के नैतिक और चरित्रसंबधी स्खलन ही न देखे, प्रचलित सामाजिक अथवा राजनीतिक कार्यक्रम से उनकी तटस्थता की ही निंदा न करें, यदि वास्तव में उन्होंने अपनी साहित्य-सृष्टि द्वारा नवीन शैली, नवीन सौंदर्य-कल्पना और भव्य भाव-जगत् की रचना की है। महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर के महर्षित्व पर नवयुवक बंगालियों ने विकट विकट आक्षेप किए हैं और वर्तमान राजनीति में सक्रिय भाग न लेने के कारण उनके विरुद्ध कठोर व्यंग्यों की भी झड़ी लगी है, पर क्या साहित्यिक समीक्षा की अब ये ही प्रणालियाँ रह जायँगी? जिस देश के दर्शन-शास्त्र गोचर-क्रिया को विशेष महत्त्व नहीं देते, चेतन-शक्ति पर विश्वास करते हैं, उसमें महाकवि रवींद्रनाथ को इससे अच्छे पुरस्कार मिलने चाहिऍ। रवि बाबू स्वदेशप्रेम को संपूर्ण मनुष्यता और विश्वप्रेम के धरातल पर उठाकर रखने में समर्थ हुए हैं, उन्होंने स्वदेश की प्रादेशिक सीमा के जड़त्व का नाश किया है—अपनी उदार अनुभूतियों और अपनी विराट् कल्पना की सहायता से। उन्होंने संसार की शांति और साम्य के लिये एक व्यापक आदर्श की सृष्टि की है जिसकी संभावनाएँ भविष्य में अपार हैं। इसके लिये

यदि हम उनके कृतज्ञ नहीं होते और यह जरूरी समझते हैं कि वे जनता के नेता का रूप धारण करें तो यह हमारी ही संकीर्ण भावना है जो हमें प्रकृति की अनेकरूपता को समझने नहीं देती।

साहित्य और जीवन में घनिष्ठ से घनिष्ठ संबंध स्थापित होने पर भी दोनों में अंतर रहेगा ही। जीवन तो एक धारा-प्रवाह है, साहित्य में उसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूँदें एकत्र की जाती हैं। जीवन के अनंत आकाश में साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक वितरण करते हैं। सामयिक जीवन तो अनेक नियमित-अनियमित, ज्ञात-अज्ञात घटनावली का समष्टि रूप है। साहित्य में कुछ नियम भी अपेक्षित हैं। यह अवश्य है कि हम जिस हवा में साँस लेते हैं, प्रत्येक क्षण उसके परमाणु हम में प्रवेश पाते हैं तथापि हमारा साहित्य केवल इन परमाणुओ का संग्रह होकर ही नही रह सकता। प्रत्येक सभ्य और प्रतिभाशाली मनुष्य वर्तमान में रहता हुआ अतीत और भविष्य में भी रहता है। साहित्यकार के लिये तो ऐसा और भी स्वाभाविक है। महान् कलाकार तो देश और काल की सीमा भंग करने में ही सुख मानते हैं और सार्वभौम समाज के प्रतिनिधि बनकर रहते हैं। सामयिक जीवन का उनके लिये उतना ही महत्त्व है जितना वह उनके विराट, सर्वकालीन यथार्थ जीवन की कल्पना में सहायक बन सकता है। निश्चय ही यह महान् कलाकारो की बात कही जा रही है।

साहित्य-कला की कुछ ऐसी सुष्ठु, प्रभावशाली और सुंदर विशेषताएँ हैं जो जीवन के स्थूल यथार्थ से मेल नहीं खातीं। साहित्य में 'राम' और 'कृष्ण' चिरसुंदर अंकित किए जाते हैं, कलाओं में उनके चित्र भी वैसे ही मिलते हैं, पर जीवन में तो वे वैसे नहीं रहे होंगे। साहित्य की अतिशयोक्तियाँ इंद्र-धनुष सी जीवन के स्थूल, अकाल्पनिक, रूखे अस्तित्व को मनोरम बना देती हैं। साहित्य में मनुष्य का जीवन ही नहीं, जीवन की वे कामनाएँ जो अनंत जीवन में भी पूरी नहीं हो सकतीं, निहित रहती हैं। जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है तो साहित्य में उस अभिव्यक्ति की आशा उत्कंठा भी सम्मिलित है। जीवन यदि संपूर्णता से रहित है तो साहित्य उसके सहित है। तभी तो उसका नाम साहित्य है। तभी तो साहित्य जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है।

करुणा

[पण्डित रामचंद्र शुक्ल]

जब बच्चे को कार्य-कारण-संबंध कुछ कुछ प्रत्यक्ष होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले यह देखता है कि जैसे हम हैं वैसे ही ये और प्राणी भी हैं और बिना किसी विवेचना-क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। फिर कार्य-कारण संबंध से अभ्यस्त होने पर दूसरे के दुःख के कारण वा कार्य को देखकर उनके दुःख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दुःख अनुभव करता है। प्रायः देखा जाता है कि जब माँ झूठमूठ 'ऊँ ऊँ' करके रोने लगती है तब कोई कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं* । इसी प्रकार जब उनके किसी भाई वा बहन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं† ।

---

* कार्य्य । † कारण ।

दुःख की श्रेणी में परिणाम के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनंद दोनों की श्रेणियों में रखी गई है। आनंद की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे, पर दुःख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है। लोभ से, जिसे मैंने आनंद की श्रेणी में रखा है, चाहे कभी कभी और व्यक्तियों वा वस्तुओं को हानि पहुंच जाय पर जिसे जिस व्यक्ति वा वस्तु का लोभ होगा उसकी हानि वह कभी नहीं करेगा। लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोड़ा; पर भीतर से जो जवाहिरात निकले उनको खूब सँभाल-कर रखा। नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर अफगन को मरवाया पर नूरजहाँ को बड़े चैन से रखा।

कभी कभी नम्रता, सज्जनता, धृष्टता, दीनता, आदि मनुष्य की स्थायी वासनाएँ, जिन्हें गुण कहते हैं, तीव्र होकर मनोवेगों का रूप धारण कर लेती हैं पर वे मनोवेगों में नहीं गिनी जातीं।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्योंही समाज में प्रवेश करता है, उसके दुःख और सुख का बहुत सा अंश दूसरों की

क्रिया वा अवस्था पर निर्भर हो जाता है और उसके मनोविकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिये अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरों के दुःख से दुःखी और दूसरों के सुख से सुखी होने लगता है। अब देखना यह है कि क्या दूसरों के दुःख से दुःखी होने का नियम जितना व्यापक है उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी। मैं समझता हूँ, नहीं। हम अज्ञात कुल-शील मनुष्य के दुःख को देखकर भी दुःखी होते हैं। किसी दुखी मनुष्य को सामने देख हम अपना दुःखी होना तब तक के लिये बंद नहीं रखते जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है। यह और बात है कि यह जानकर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध वा अत्याचार किया है, हमारी दया दूर वा कम हो जाय। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध वा अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी वा अत्याचारी का वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है। सारांश यह कि करुणा की प्राप्ति के लिये पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। पर आनंदित हम ऐसे ही आदमी के सुख को देखकर होते हैं जो या तो हमारा सुहृद् या संबंधी हो अथवा अत्यंत सज्जन, शीलवान् वा चरित्रवान् होने के कारण समाज का मित्र वा हितू हो। यों ही किसी अज्ञात व्यक्ति का लाभ वा कल्याण सुनने से हमारे हृदय में किसी प्रकार के आनंद का

उदय नहीं होता। इससे प्रकट है कि दूसरों के दुःख से दुःखी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। इसके अतिरिक्त दूसरों को सुखी देखकर जो आनंद होता है उसका न तो कोई अलग नाम रखा गया है और न उसमें वेग या क्रियोत्पादक गुण है। पर दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है वह करुणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने को उत्तेजना करता है।

जब कि अज्ञात व्यक्ति के दुःख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तब जिस व्यक्ति के साथ हमारा विशेष संसर्ग है, जिसके गुणों से हम अच्छी तरह परिचित हैं, जिसका रूप हमें भला मालूम होता है उसके उतने ही दुःख पर हमें अवश्य अधिक करुणा होगी। किसी भोली-भाली सुंदरी रमणी को, किसी सच्चरित्र परोपकारी महात्मा को, किसी अपने भाई-बंधु को दुःख में देख हमें अधिक व्याकुलता होगी। करुणा की यह सापेक्ष तीव्रता जीवन-निर्वाह की सुगमता और कार्य-विभाग की पूर्णता के उद्देश्य से इस प्रकार परिमित की गई है।

मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि-संस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता वा दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उसके संबंध वा संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या

दुर्जनता की कोटि में न आएगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अतः सबके उद्देश्यों को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दुःख का निराकरण या बचाव हुआ। अतः जिन कर्म्मों से संसार के इस उद्देश्य का साधन हो वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिये उससे भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्म्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुःख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्त्विक हैं तथा जिस अंतःकरण-वृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो वह सात्त्विक है। कृपा वा प्रसन्नता से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है। पर एक तो कृपा वा प्रसन्नता में आत्मभाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है। दूसरी बात यह है कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यंत अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोवेगों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने आचरण द्वारा दूसरे के संभाव्य दुःख का ध्यान या अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील वा साधारण सद्वृत्ति के अंतर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा में तो "शील" शब्द से चित्त की कोमलता वा मुरौवत ही का भाव समझा जाता है

जैसे, 'उनकी आँखों में शील नहीं है', 'शील तोड़ना अच्छा नहीं'। दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दुःख न पहुँचाना इन दोनों बातों का निर्वाह करनेवाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है पर दुःशीलता वा दुर्भाव का नहीं। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि वह कभी बड़ों की कोई बात न मानेगा तो इसलिये कि वह उसे ठीक नहीं जँचती, वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है, इसलिये नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे। मेरे विचार के अनुसार 'सदा सत्य बोलना', 'बड़ों का कहना मानना' आदि नियम के अंतर्गत हैं, शील वा सद्भाव के अंतर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े बड़े अनर्थ हो जाते हैं इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिये यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने संसार में बहुत सा झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता। किसी किसी अवस्था में तो धर्मग्रंथों में झूठ बोलने की इजाजत तक दे दी गई है, विशेषतः जब इस नियमभंग द्वारा अंतःकरण को किसी उच्च और उदार वृत्ति का साधन होता हो यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और निःसहाय व्यक्ति अनुचित दंड से बच जाय तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नहीं बतलाया गया है क्योंकि नियम शील वा सद्वृत्ति का साधक है, समकक्ष नहीं। मनो-

वेग-वर्जित सदाचार केवल दंभ है। मनुष्य के अंतःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगानेवाली यही करुणा है। इसी से जैन और बौद्ध-धर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी-तुलसीदासजी ने भी कहा है—

पर-उपकार सरिस न भलाई।
पर-पीड़ा सम नहीं अधमाई॥

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी न किसी रूप में सात्विकशीलता ही है। अत. करुणा और सात्त्विकता का सबंध इस बात से और भी प्रमाणित होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करनेवाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नही उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा आनंद आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। यह दिखलाया ही जा चुका है कि प्राणियों की आदि अंतःकरण-वृत्ति रागात्मक है। अतः मनोवेगो में से जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्त्विकता का आदि-संस्थापक ठहरा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य का आचरण मनोवेग वा प्रवृत्ति ही का फल है। बुद्धि दो वस्तुओ के रूपों को अलग अलग दिखला देगी, यह मनुष्य के मनोवेग पर निर्भर है कि वह उनमें से किसी एक को चुनकर कार्य में प्रवृत्त हो। कुछ दार्शनिको ने तो यहाँ तक दिखलाया है कि हमारे निश्चयो का अंतिम आधार अनुभव वा कल्पना की

तीव्रता ही है; बुद्धि द्वारा स्थिर की हुई कोई वस्तु नहीं। गीली लकड़ी को आग पर रखने से हमने एक बार धुँआ उठते देखा, दस बार देखा, हजार बार देखा, अतः हमारी कल्पना में यह व्यापार जम गया और हमने निश्चय किया कि गीली लकड़ी आग पर रखने से धुआँ होता है। यदि विचार कर देखा जाय तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अंतःकरण की सारी वृत्तियाँ केवल मनोवेगों की सहायक हैं, वे मनोवेगों के लिये उपयुक्त विषय मात्र ढूँढ़ती हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति पर कल्पना को और मनोवेगो को व्यवस्थित और तीव्र करनेवाले कवियों का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दुःख होता है वह भी करुणा कहलाता है, क्योंकि उसमे दया व करुणा का अंश भी मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विषय दूसरे का दुःख है। अतः प्रिय के वियोग में इस विषय की संप्राप्ति किस प्रकार होती है, यह देखना है। प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय में डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है वह उसके दूर होने से अनिश्चय मे परिवर्तित हो जाता है। अस्तु प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करुणा का विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। जो करुणा हमें साधारण जनो के उपस्थित दुःख से होती है वही करुणा हमें प्रियजनों के सुख के अनिश्चिय मात्र से होती है साधारण जनो का तो हमें दुःख असह्य होता है पर प्रियजनों के

सुख का अनिश्चय ही। अनिश्चित बात पर सुखी या दुःखी होना ज्ञानवादियों के निकट अज्ञान है इसी से इस प्रकार के दुःख वा करुणा को किसी किसी प्रांतिक भाषा में 'मोह' भी कहते हैं। सारांश यह कि प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करुणा का अंश रहता है उसका विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। राम जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दुःखो होती है—

वन को निकरि गए दोउ भाई।
सावन गरजै, भादों बरसै, पवन चलै पुरवाई।
कौन विरिछ तर भीजत ह्वै हैं, राम लखन दोउ भाई॥

—गीत

प्रेमी को यह विश्वास कभी नहीं होता कि उसके प्रिय के सुख का ध्यान जितना वह रखता है उतना संसार में और भी कोई रख सकता है। श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा चले गए जहाँ सब प्रकार का सुख-वैभव था पर यशोदा इसी सोच में मरती रहीं कि—

प्रात समय उठि माखन रोटी को विन माँगे दैहै?
को मेरे वालक कुँवर कान्ह को छिन छिन आगो लैहै?

और उद्धव से कहती हैं—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥
उबटन, तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।

जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रमक्रम करिके न्हाते ॥
तुम तो टेव जानतिहि ह्वै हौ तऊ मोहिं कहि आवै ।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोट भावै ।
अब यह सूर मोहि निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच ।
अब मेरे अलकलड़ैते लालन ह्वै हैं करत सँकोच ॥

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं कभी कभी घोर अनिष्ट की आशंका तक होती है; जैसे एक पति-वियोगिनी स्त्री संदेह करती है—

नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानूँ कछु होय ।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय ॥

प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करुणा का अंश होता है उसे तो मैंने दिखलाया किंतु ऐसे दुःख का प्रधान अंग आत्मपक्ष-संबंधी एक और ही प्रकार का दुःख होता है जिसे शोक कहते हैं । जिस व्यक्ति से किसी को घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारों तथा मनोवृत्तियों का आधार होता है । उसके जीवन का बहुत सा अंश उसी के संबंध द्वारा व्यक्त होता है । मनुष्य अपने लिये संसार आप बनाता है । संसार तो कहने-सुनने के लिये है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है । अतः ऐसे लोगों में से किसी का दूर होना उसके लिये उसके संसार के एक अंश का उठ जाना या जीवन के एक अंग का निकल जाना है । किसी प्रिय वा सुहृद् के चिरवियोग या

मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किए हुए अन्याय या कुव्यवहार, तथा उसकी इच्छा-पूर्ति के सबंध में अपनी त्रुटियो को स्मरण कर और यह सोच-कर कि उसकी आत्मा को संतुष्ट करने की संभावना सब दिन के लिये जाती रही, बहुत अधीर और विकल होते हैं।

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिये करुणा का प्रसार आवश्यक है। समाज-शास्त्र के पश्चिमी ग्रंथकार कहा करें कि समाज में एक दूसरे की सहायता अपनी अपना रक्षा के विचार से की जाती है; यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्म्म-क्षेत्र मे परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देनेवाली किसी न किसी रूप में करुणा ही दिखाई देगी। मेरा यह कहना नहीं कि परस्पर की सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नही है। मेरे कहने का यह अभिप्राय है कि संसार में एक दूसरे की सहायता, विवेचना द्वारा निश्चित, इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रखकर नहीं की जाती बल्कि मन की प्रवृत्ति-कारिणी प्रेरणा से की जाती है। दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की भी संभावना है इस बात या उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक, विशेषकर सच्चे सहायक को तो नही रहता। ऐसे विस्तृत उद्देश्यों का ध्यान तो विश्वात्मा स्वयं रखती है; वह उसे प्राणियों की बुद्धि ऐसी चंचल और मुंडे मुंडे भिन्न वस्तु के भरोसे नहीं छोड़ती। किस युग में और किस प्रकार मनुष्यों

ने समाज-रक्षा के लिये एक दूसरे की सहायता करने की गोष्ठी की होगी, यह समाज-शास्त्र के बहुत से वक्ता ही जानते होंगे। यदि परस्पर सहायता की प्रवृत्ति पुरुषों की उस पुरानी पंचायत ही के कारण होती और यदि उसका उद्देश्य वहीं तक होता जहाँ तक ये समाज-शास्त्र के वक्ता बतलाते हैं तो हमारी दया मोटे, मुसंडे और समर्थ लोगों पर जितनी होती उतनी दीन, अशक्त और अपाहज लोगों पर नहीं, जिनसे समाज को उतना लाभ नहीं। पर इसका बिलकुल उलटा देखने में आता है। दुःखी व्यक्ति जितना ही अधिक असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी। एक अनाथ अबला को मार खाते देख हमें जितनी करुणा होगी उतनी एक सिपाही या पहलवान को पिटते देख नहीं। इससे स्पष्ट है कि परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनका धारण करनेवाला मनुष्य का छोटा सा अंतःकरण नहीं, विश्वात्मा है।

दूसरों के विशेषतः अपने परिचितों के क्लेश या करुणा पर जो वेग-रहित दुःख होता है उसे सहानुभूति कहते हैं। शिष्टाचार में अब इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा सा हो गया है। अब प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यों ही भेजा

करते हैं। यह छद्म-शिष्टता मनुष्य के व्यवहारक्षेत्र में घुसकर सच्चाई को चरती चली जा रही है।

करुणा अपना बीज लक्ष्य में नहीं फेंकती अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करनेवाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम मे होता है—बल्कि कृतज्ञता, श्रद्धा या प्रीति करता है। बहुत सो औपन्यासिक कथाओं में यह बात दिखलाई गई है कि युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करनेवाले युवको के प्रेम मे फँस गई हैं। उद्वेगशील बँगला उपन्यास-लेखक करुणा और प्रीति के मेल से बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते है।

मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में देश और काल की परिमिति अत्यंत संकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को जिस समय और जिस स्थान पर देखता है उसकी उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान या उपलब्ध ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लाँघता हुआ अपना देश और काल-संबंधी विस्तार बढ़ाता है। उपस्थित विषय के संबंध में उपयुक्त भाव प्राप्त करने के लिये यह विस्तार कभी कभी आवश्यक होता है। मनोवेगों की उपयुक्तता कभी कभी इस विस्तार पर निर्भर रहती है। किसी मार खाते हुए अपराधी के विलाप पर हमें दया आती है पर जब सुनते हैं कि कई स्थानों पर कई बार वह बड़े बड़े अपराध कर चुका है, इससे आगे भी ऐसे ही अत्याचार करेगा तब

हमें अपनी दया की अनुपयुक्तता मालूम हो जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति और अनुमान आदि केवल मनोवेगों के सहायक हैं अर्थात् प्रकारांतर से वे मनोवेगों के लिये विषय उपस्थित करते हैं। ये कभी तो आपसे आप विषयों को मन के सामने लाते हैं; कभी किसी विषय के सामने आने पर ये उससे संबंध (पूर्वापर वा कार्य-कारण-संबंध) रखनेवाले और बहुत से विषय उपस्थित करते हैं जो कभी तो सबके सब एक ही मनोवेग के विषय होते हैं और उस प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को तीव्र करते हैं, कभी भिन्न भिन्न मनोवेगों के विषय होकर प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को परिवर्त्तित वा धीमा करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग वा प्रवृत्ति को मंद करनेवाली, स्मृति, अनुमान वा बुद्धि आदि कोई दूसरी अंतः-करण-वृत्ति नहीं है, मन की रागात्मिका क्रिया या अवस्था ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति ही में है। नीतिज्ञों और धार्म्मिकों का मनोवेगो को दूर करने का उपदेश घोर पाखंड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त संबंध-निर्वाह पर जोर देते हैं। यदि मनोवेग न हो तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते भी मनुष्य बिलकुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों को मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है, इनका

पूर्ण और सच्चा निर्वाह उसके लिये कठिन होता जाता है और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकलता जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देख आनंदित होने के लिये अब उसके हृदय में उतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध वा घृणा होती है पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी की भी मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती है। जीवन-निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ के कारण उसे दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देने, उस पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य, हृदय को दबाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली सा जड़ होता जाता है—उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पाखंडी लोग मनोवेगो का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बना बनाकर कहने लगे हैं—"करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, क्रोध छोड़ो, आनंद छोड़ो। बस हाथ-पैर हिलाओ, काम करो।"

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार क्रिया करना और बात, पर अनुसारी परिणाम के निरंतर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो पहले दो-चार बार उसे दया उत्पन्न होगी पर जब बार बार दया का कोई अनुसारी परिणाम वह

उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे धीरे उसका दया का अभ्यास कम होने लगेगा।

बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमे करुणा आदि मनोवेगो के अनुसार काम नहीं किया जा सकता पर ऐसे अवसरो की संख्या का बहुत बढ़ना ठीक नही है। जीवन में मनोवेग के अनुसार परिणाम का विरोध प्रायः तीन वस्तुओं से होता है—(१) आवश्यकता,, (२) नियम और (३) न्याय। हमारा कोई नौकर बहुत बुड्ढा और कार्य करने में अशक्त हो गया है जिससे हमारे काम में हर्ज होता है। हमें उसकी अवस्था पर दया हो आती है पर आवश्यकता के अनुरोध से उसे अलग करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफसर के कुवाक्य पर क्रोध तो आता है पर मातहत लोग आवश्यकता के वश उस क्रोध के अनुसार कार्य्य करने की कौन कहे उसका चिह्न तक नहीं प्रकट होने देते। अब नियम को लीजिए। यदि कहीं पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य्य करने पाएँ तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा वह किसी ऐसे अकिंचन को देख, जिसके पास एक पैसा भी न होगा, दया तो करेगा पर नियम के वशीभूत हो उसे वह उस कार्य को करने से रोकेगा। राजा हरिश्चंद्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही मृत पुत्र के कफन का टुकड़ा फड़वा नियम का अद्भुत पालन किया था। पर यह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर कोई दूसरी दुखिया स्त्री होती तो

राजा हरिश्चंद्र के उस नियम-पालन का उतना महत्व न दिखाई पड़ता; करुणा ही लोगो की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खींचती है। करुणा का विषय दूसरे का दुःख है, अपना दुःख नहीं। आत्मीयजनो का दुःख एक प्रकार से अपना ही दुःख है उससे राजा हरिश्चंद्र के नियम-पालन का जितना स्वार्थ से विरोध था उतना करुणा से नहीं।

न्याय और करुणा का विरोध प्रायः सुनने मे आता है। न्याय से उपयुक्त प्रतीकार का भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे १०००) उधार लिए तो न्याय यह है कि वह १०००) लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध किया तो न्याय यह है कि उसको दंड मिले। यदि १०००) लेने के उपरांत उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा अत्यंत शोचनीय हो गई तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता गिड़गिड़ता है और कान पकड़ता है और पूर्ण दंड की अवस्था में अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का विरोध करुणा कर सकती है। ऐसी अवस्थाओं में करुणा करने का सारा अधिकार विपक्षी अर्थात् जिसका रुपया चाहिए या जिसका अपराध किया गया है उसको है, न्यायकर्त्ता या तीसरे व्यक्ति को नहीं। जिसने अपनी कमाई के १०००) अलग किए, या अपराध द्वारा जो क्षति-ग्रस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के हाथ में करुणा ऐसी उच्च

सद्वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देती है। करुणा संत का सौदा नहीं है। यदि न्यायकर्त्ता को करुणा है तो वह उसकी शांति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामलों में वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हजार पाँच सौ अपने पास से दे दे या दंडित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिये भी करुणा का द्वार खुला है।

राजपूतों का उत्थान

[महाराजकुमार रघुवीरसिंह]

राष्ट्रीय जीवन का प्रवाह निरंतर बहता जाता है, चिरकाल से वह बहता आया है और चिरकाल तक वह बहता रहेगा। वह प्रवाह कभी भी बंद नहीं हो सकता। राष्ट्रीय जीवन में समय समय पर नवीन बातें उठ खड़ी होती हैं और इन परिवर्तनो के फल-स्वरूप उसमें नूतनता पैदा हो जाती है, और उस प्रवाह का मार्ग समय समय पर बदलता जाता है। इन्हीं कारणों से समय समय पर राष्ट्र में नवीन जातियों का उद्भव, उनकी उन्नति होती है और अनेकों का पतन तथा समूल नाश हो जाता है। यों प्रत्येक जाति का उत्थान तथा पतन राष्ट्रीय जीवन में होनेवाली घटनाओं, मार्ग मे उपस्थित होनेवाली बाधाओं तथा परिवर्तनो के कारण होता है। भिन्न भिन्न जातियों के राष्ट्रीय जीवन में भिन्न भिन्न निश्चित उद्देश्य रहे हैं और उन उद्देश्यो को परिपूर्ण करने ही के लिये जातियों का उत्थान होता है। ये निश्चित उद्देश्य, उद्भव के समय की दशा आदि बातें ही उस जाति के आचार-विचार तथा

उसके रीति-रिवाजों को एक प्रकार से स्थिर करती है। जिस दशा में वह जाति अपने उद्देश्य को कार्य रूप में परिणत करती है उसका जातीय जीवन पर अमिट प्रभाव पड़ता है। पुनः जिन जातियों का उद्भव किसी निश्चित उद्देश्य से होता है, उसका पतन उस उद्देश्य के परिपूर्ण या विफल होने पर हो जाता है। क्योंकर विधि के विधान से ये अदृश्य परिवर्तन होते हैं, क्योंकर एकाएक जातियो का उत्थान होता है और बाद मे वैसे ही वेग के साथ उनका पतन होता है, ये बड़ी ही मनोरंजक बातें हैं और इतिहास के प्रत्येक पाठक को स्पष्टतया दिखाई देती हैं। जैसे एक नदी के प्रवाह में से एक छोटी सी धारा निकलकर दूसरे मार्ग को ग्रहण करती है और आगे इधर-उधर घूमती-घामती पुनः नदी में आ मिलती है, वैसे ही जातीय जीवन की धारा का उद्भव राष्ट्रीय जीवन के प्रवाह से होता है और उसका कार्य पूर्ण हो जाने पर वह राष्ट्रीय जीवन में समाविष्ट हो जाती है। यह सत्य है कि पुनः समाविष्ट हो जाने पर राष्ट्रीय जीवन के प्रवाह में जातीय जीवन का उतना महत्त्व नहीं रहता, किंतु जिस समय जातीय जीवन का प्रवाह राष्ट्रीय जीवन से विलग, भिन्न भिन्न मार्गों में होकर बहता है, उस समय उसका प्रभाव स्पष्टतया अमिट ही नहीं होता किंतु बड़े महत्त्व का होता है। राष्ट्रीय जीवन के प्रति जातीय जीवन का कार्य इस प्रभाव से ही कूता जाता है, और उसका महत्त्व इसी पर निर्भर रहता है। संसार के समस्त देशो में यही होता

आया है। यूरोपीय इतिहास भिन्न भिन्न देशो के निरंतर उत्थान तथा पतन का किस्सा है। यूनान, रोम, स्पेन, फ्रांस, आस्ट्रिया, इंगलैंड, जर्मनी आदि के उत्थान-पतन के विवरण से ही यूरोपीय इतिहास भरा है। भारतीय इतिहास भी इस नियम का अपवाद नहीं। राजपूतों का उत्थान भी राष्ट्रीय जीवन से निकला हुआ जातीय जीवन का एक प्रवाह मात्र था। राष्ट्र की किसी आवश्यकता-विशेष को पूर्ण करने ही के लिये उनका उत्थान हुआ। क्योकर उनका उत्थान हुआ, और कैसे धीरे धीरे उनका विकास हुआ इसी पर यहाँ विचार करेंगे।

भारतीय इतिहास के प्रारंभिक लेखक पाश्चात्य विद्वानों के सम्मुख यह एक बड़ा प्रश्न उपस्थित हुआ था कि ये राजपूत कौन थे ? इनका उद्गम कहाँ से हुआ था ? ये कहाँ से आए थे ? इन प्रश्नो को हल करने में उनके सम्मुख दो विकट कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुईं। प्रथम तो यह कि बौद्धकाल से पहले ही "क्षत्रिय" पाए जाते थे, बौद्धकालीन इतिहास में क्षत्रियो का उल्लेख नही आता है। पुनः उन दिनों राजपूतों का नाम नहीं मिलता। ईसा से कोई छ: शताब्दी बाद ही इतिहास में राजपूतो का उल्लेख मिलता है। अतः राजपूत तथा क्षत्रिय क्योकर एक हो सकते हैं ? दूसरी कठिनाई नाम की आती है। यद्यपि यह मान लिया जाय कि दोनों एक ही थे तो नाम में भेद क्यो पाया जाता है ? बौद्धकाल से पहले "क्षत्रिय" थे और बाद में "राजपूत" पाए जाते हैं। अतः ऊपरी दृष्टि से विचार कर वे इसी

परिणाम पर पहुँचते है कि "क्षत्रिय" और "राजपूत" दो विभिन्न जातियो के नाम हैं। दोनों में किसी प्रकार का संबंध नही था। इसी कारण उनका मत है कि यद्यपि राजपूत अपने को क्षत्रियों का ही वंशज बताते हैं किंतु उनका उद्भव विदेशो से आक्रमण करनेवाली जातियो से हुआ है। ये ही कठिनाइयाँ स्मिथ आदि इतिहासकारो को भूल-भूलैयाँ में डाल देती हैं। स्मिथ ने तो यहां तक लिख डाला है कि "ई० स० की ८ वीं तथा ६ वीं शताब्दी में राजपूत राज्यो का उद्भव होना एक आश्चर्यजनक घटना है।" अतः इस भूल-भुलैयाँ को सुलझाने के लिये भिन्न भिन्न इतिहासकारो ने भिन्न भिन्न रीतियो से प्रयत्न किए हैं। "राजपूताने का इतिहास" के लेखक महामहोपाध्याय रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचद जी ओझा ने अपने ग्रंथ में यह स्पष्टतया बताया है कि राजपूत और क्षत्रिय एक ही थे। अतः इस विषय पर अधिक विचार न कर राजपूतों के उद्गम के विषय में यों लिख सकते हैं। बौद्ध-धर्म के प्रचार के साथ ही एक प्रकार से हिंदू-धर्म का पतन हुआ। दूर दूर बौद्ध-धर्म का बोल बाला था, किंतु फिर भी हिंदू-धर्म नष्ट नही हुआ था। अतः हिंदू-धर्म के चारों वर्ण बौद्धकाल में भी विद्यमान थे, किंतु बौद्धकाल में प्रायः सब महान् शासकों तथा सम्राटों ने बौद्ध-धर्म अंगीकार किया और बौद्ध-धर्म ही भारत का प्रधान धर्म हो गया था, अतएव हमें उस काल के इतिहास में क्षत्रियों का विशेष विवरण नही मिलता। परंतु जब भारत में बौद्ध-धर्म

का पतन हुआ तब पुनः हिंदू-धर्म का उत्थान हुआ। क्षत्रियों का महत्त्व बढ़ गया। हिंदू-धर्म अभी संकीर्ण नहीं हुआ था, न अभी तक हिंदू-धर्म को ग्रहण करनेवाले विधर्मियों के विरुद्ध हिंदू-समाज ने अपने कपाट बंद किए थे। इसी लिये कई क्षत्रिय, जो बौद्धधर्मानुयायी हो गए थे, पुनः हिंदू-धर्म की छत्रच्छाया में लौट आए। यही नहीं, किंतु बाह्य आक्रमणकारियों में से भी अनेकों को क्षत्रियों ने अपने में मिला लिया था। यों हिंदू-धर्म के उत्थान के साथ क्षत्रियों का पुनरुत्थान हुआ और हिंदू समाज ने पुनः शक्ति ग्रहण की। नवीन जीवन तथा स्फूर्ति से पूर्ण यह क्षत्रिय जाति ही बाद में राजपूत कहलाई। पुनरुत्थान के इस काल में, ये नवीन राज्याधिपति, अपना महत्त्व स्थापित करने तथा प्राचीन क्षत्रिय राजाओं की समकक्षता की अपने पद की मान-मर्यादा बनाने के लिये अपने आपको "राजपुत्र" कहने लगे और धीरे-धीरे इसी "राजपुत्र" शब्द का अपभ्रंश होकर "राजपूत" हो गया।

धूमकेतु के समान एकाएक भारतीय आकाश में राजपूतों का उत्थान हुआ। उनके उत्थान का क्रम बहुत दिनों से अदृश्यतया चला आ रहा था, किंतु हर्ष की मृत्यु के अनंतर जब भारत पर अराजकता का अंधकार छा गया तब राजपूत एकाएक चमक उठे। उनके उत्थान का समय आ गया था। बौद्ध-धर्म का पतन हो रहा था; बुझते हुए दीपक की अंतिम ज्योति एकाएक चमककर अब धीरे धीरे क्षीण होने

लगी थी। इस धर्म का पुनरुत्थान करनेवाला कोई न था, किंतु इसके विपरीत हिंदू-धर्म के पुनरुत्थान के लिये बड़े बड़े प्रयत्न किए जा रहे थे। इस उत्थान में राजपूत राजाओं का बड़ा हाथ था। हिंदुओं के नेता बनकर ये सारे भारत को अपने हाथ में करने लगे थे और धीरे धीरे सारा भारत राजपूत राजाओं में बँट गया था। इस प्रकार राजपूत हिंदुओं के नेता तथा रक्षक बने और अब दोनों का भाग्य अदृश्य बंधनों द्वारा बँधकर एक हो गया। हिंदुओं की आशा के एकमात्र आधार राजपूत ही थे और मध्यकाल तथा आधुनिक काल का इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक के उत्थान तथा पतन का प्रभाव दूसरे पर पूर्णतया पड़ता है; एक के जीवन में होनेवाले परिवर्तनों की प्रतिच्छाया दूसरे पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है।

यों ७ वीं शताब्दी में राजपूत भारत के राजनैतिक रंगमंच पर अवतीर्ण हुए। युद्ध ही उनका जीवन था, युद्ध करने ही के लिये वे रंगभूमि पर आए थे। उनका पुनरुत्थान करनेवाले, उनकी शक्ति बढ़ानेवाले तथा उन्हें पुनः उसी प्राचीन गौरवशाली पद पर स्थित करनेवाले ब्राह्मण ही उनकी नीति आदि निश्चित करने लगे। ब्राह्मणों ने ही धीरे धीरे राजपूतों के समाज को निर्माण किया। इन दिनों कुछ शताब्दियों से भारत पर कोई बाह्य आक्रमण नहीं हुए थे। अरबों ने सिंध को जीता था, किंतु इस विजय का भारतीय समाज आदि पर

अधिक प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि अरब सिंध को अधिक काल तक अपने अधीन नही रख सके। यों राजपूतो को अपनी शक्ति बढ़ाने तथा अपनी नीति आदि निश्चित करने का अवसर पूरा मिल गया। इसी काल में उनके कार्य के अनुरूप राजपूतो का समाज एक ढॉचे में ढल गया। उनके रीति-रिवाज, आचार-विचार निश्चित हो गए। तत्कालीन यूरोप के समान यहाँ भी तब जागीर-प्रथा का बोलबाला हो गया। यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि राजपूतो के पहले भारत में जागीर-प्रथा प्रचलित थी या नहीं, किंतु इसमें कोई संदेह नही कि इस प्रथा का पूर्ण स्वरूप राजपूत-काल में ही विकास को प्राप्त हुआ था। इस प्रथा से राजपूतों को कई हानियाँ सहनी पड़ीं, किंतु साथ ही इसी के कारण उन्हें कई लाभ भी हुए। मुसलमानो के आक्रमणों के भयकर झोको को सहन करके भी राजपूत-जाति तथा समाज अपने स्थान पर बने रहे, इसका बहुत कुछ श्रेय इस जागीर-प्रथा को ही है।

अपने नवीन स्वरूप मे राजपूत समाज ने आशातीत उन्नति की। उनका मुख्य कार्य युद्ध करना था। जब सारा भारत राजपूतों द्वारा जीता जा चुका तब भिन्न भिन्न राजवश आपस में लड़ने लगे। समाज का संगठन ही सेना-प्रधान था, अतः आपसी युद्धों ने भीषण स्वरूप धारण किया। जिन जिन में शक्ति थी उन्होने निर्बलों को दबाया; जहाँ समान शक्तिशाली थे वहाँ यदा-कदा युद्ध होता ही रहता था। समय समय

पर भिन्न भिन्न राजवंशों के भाग्य में हेर-फेर होता रहा, जिससे कभी एक का उत्थान हुआ तो कभी दूसरे का। इसी आपसी युद्ध का भारत की आंतरिक दशा पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इधर इन्हीं दिनों भारत पर मुसलमानों के निरंतर आक्रमण होने लगे, उनका सामना करने तथा उन्हें रोकने के प्रयत्न विफल हुए। पराधीनता की घटा भारत पर छाने लगी। पंजाब को महमूद गजनवी ने जीत लिया था, दो शताब्दी बाद सारे भारत की बारी आई। सहस्रों वर्षों से जो भारत जगद्-गुरु था, अब वह पराधीन होनेवाला था। भारत का भाग्य-भानु, हिंदुओं का स्वातंत्र्य-सूर्य, ग्रसित होने को था। वही पुराना कुरुक्षेत्र था; पुनः राहु पूर्ण वेग से हिंदुओं को ग्रसने के लिये दौड़ रहा था। अंत में तराइन का दूसरा युद्ध हुआ। राजपूतों के भाग्याकाश में अंधकार छा गया; पृथ्वीराज और उसके साथी हारे; हजारों राजपूत वीर खेत रहे; पृथ्वीराज भी मारा गया। दिल्ली और अजमेर के बाद कन्नौज भी मुसलमानों के हाथ में आया। राजपूतों की स्वतंत्रता सर्वदा के लिये नष्ट हो गई। किंतु ग्रसित-सूर्य में भी तेज तथा सौंदर्य पाया जाता है। खग्रास-सूर्य से भी आशा तथा तेज की लपटें निकली पड़ती हैं। परतंत्रता से ग्रसित होने पर भी राजपूत जाति का मध्यकालीन इतिहास संसार के इतिहास में अद्वितीय है। तब तक राजनीतिक दृष्टि से राजपूतों का इतिहास पारस्परिक युद्धों से कलुषित था, किंतु वे ही राजपूत अब

अपनी स्वतंत्रता हरण करनेवाले मुसलमानों पर टूट पड़े। भारतीय-सूर्य के जो पहले धब्बे थे वे अब उसके आभूषण हो गए। अब राजपूतो का स्वतंत्र-युद्ध प्रारंभ हुआ। अद्वितीय साहस के साथ, जिसका सानी ससार के इतिहास में नहीं मिलता, राजपूतो ने मुसलमानों का सामना किया। यही कारण है कि राजस्थान की ही नहीं, किंतु सारे उत्तर-पश्चिमी भारत की इंच इच पृथ्वी राजपूतो के रुधिर से सींची गई है। प्रत्येक मार्ग में पहले राजपूत कट कटकर गिरे हैं, फिर हिंदुओं तथा मुसलमानो के रुधिर की नदियाँ वही हैं और तभी मुसलमान आगे बढ़ सके हैं। इस वीर और कट्टर जाति ने क्षण क्षण, इच इंच पृथ्वी के लिये, कट कटकर खून बहा बहा-कर अपना अस्तित्व बनाए रखा है। ज्यों ज्यों उनका रुधिर बहता था, त्यों त्यों ही इस जाति के जीवन की अवधि बढ़ती जाती थी। यों यह जाति अद्भुत ढग से जीवित रही है। इसके इस स्वातंत्र्य-युद्ध की तुलना करने के लिये संसार के इतिहास में कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता है। पराधीन रहकर भी किस आश्चर्यजनक रीति से इस जाति ने अपनी स्वतंत्रता रखी, उसका दूसरा नमूना ढूँढ़े नहीं मिलता। "मानव-जाति के इतिहास में राजस्थान ही एक नमूना है, जहाँ परा-जित जाति ने अपने विजेताओं के अत्यधिक बर्बरतापूर्ण अत्याचारों को सहन किया, किंतु फिर भी अपना अस्तित्व नहीं मिटने दिया। जब झोंका आया तब उससे दब गए

किंतु तुरंत ही दुगुने साहस के साथ उठ खड़े हुए तथा दुःखों और विपत्तियों की सान पर उन्होंने अपनी साहस-रूपी तलवार की धार को तेज किया।" संसार के इतिहास में कई उदाहरण मिलते हैं जहाँ कि एक युद्ध की हार-जीत पर ही सारे साम्राज्य के भाग का निर्णय हुआ है और एक बार पराधीनता की बेड़ी पड़ते ही पराधीन जाति ने विजेताओं के आचार-विचार अपना लिए। किंतु राजपूतों ने साम्राज्य खोया; पर अपना धर्म तथा अपने रीति-रिवाज नहीं छोड़े। एक मेवाड़ ही के हजारों राजपूतों तथा सहस्रों राजवंशियों का रुधिर स्वधर्म, स्वाधीनता तथा अपनी सभ्यता की रक्षा करने में बहा है।

जागीर-प्रथा के कारण राजपूतों के साम्राज्य के साम्राज्य छोटी छोटी जागीरों में विभक्त हो गए थे। मुस्लिम आक्रमणों को साम्राज्य नहीं सह सके। राजपूत सम्राट् मारे गए और साम्राज्य नष्ट हुए। यह सत्य है कि राजपूतों के राष्ट्र संबंधी विचार कुछ संकीर्ण हो गए थे, किंतु फिर भी एक एक इंच पृथ्वी लेने में मुसलमानों को उसके मालिक से लड़ना पड़ा था। यही कारण है कि यद्यपि मुसलमानों का साम्राज्य बहुत बढ़ गया था, तथापि उसकी नींव सुदृढ़ न थी; नाम मात्र की शक्ति के ही आधार पर साम्राज्य स्थिर था। समय के साथ ही धीरे धीरे ये छोटी छोटी जागीरें दबाई जा सकीं।

साम्राज्यों के विनष्ट होने पर स्वाधीनता के प्रेमी तथा उसके अनन्य उपासक राजपूतों ने गंगा का तीर छोड़ दिया;

चे अब राजपूताने की दुरूह घाटियों, ऊजड़ मरुभूमि तथा बीहड़ वनों से पूर्ण अरावली की विकट पहाड़ियों में चले गए। कई गोंड़वाने में घुस पड़े। उन्हें अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी स्वतंत्रता की रक्षा करनी थी। मुसलमानो ने उत्तरी मैदान जीत लिया, दोआब के निरंतर उठनेवाले विद्रोहो को दबा दिया, किंतु वे राजस्थान को नहीं हथिया सके। इस समय राजपूत धीरे धीरे अपनी सत्ता बढ़ा रहे थे। वे एक नए देश में आए थे, उधर मुसलमानो की बढ़ती हुई शक्ति उनकी बाधक थी, किंतु फिर भी उन निर्जन वनों में पुनः मुसलमानो से मोर्चा लेने के लिये तैयारियाँ की जा रही थीं। इधर मुसलमान बार-बार राजपूतो को दबाने का प्रयत्न कर रहे थे। चित्तौर का किला इस बात का साक्षी है। वह आज भी संसार के सम्मुख राजपूतों के उस पुरातन स्वातंत्र्य-प्रेम का एक उज्वल स्मारक है। यहाँ तीन बार स्वातंत्र्य-यज्ञ हुआ था। राजपूतिनियों ने अपनी मान-रक्षा के लिये धधकती हुई चिता की तथा राजपूतों ने परतंत्रता से बचने के लिए तलवार की धार की शरण ली थीं। अलाउद्दीन ने ऐसे प्रथम यज्ञ की अंतिम आहुति से निकली हुई लाल लपटो को तथा उस यज्ञवेदी पर किए गये बलिदानो के रुधिर की धाराओं को बहते देखा था। पद्मिनी के लिये लालायित अलाउद्दीन ने चित्तौर पर घेरा डाला था। चित्तौर के रक्षकों को किसी प्रकार भी बचने की आशा न थी। उन निराशापूर्ण दुर्दिनों में पद्मिनी तथा अन्य राजपूतिनियों ने, अपने

बच्चों के साथ धधकती हुई चिता का आलोक देखा और वे हँसती हँसती उसमें कूद पड़ी। उस स्वातंत्र्य-प्रेम की अग्नि को गले लगाकर वे उसी की लपटों में भस्म हो गई। और राजपूतों ने ? उन्होंने अपने शत्रुओं के स्वरूप में अपने काल को देखा और परतंत्रता की उमड़ती हुई कालिमा को देखा। वे बाँके वीर उस दुर्दिन में वज्र की नाईं चमके और शत्रु की सेना पर कुलिश के समान टूट पड़े। हजारों का संहार हुआ, राजपूत मर मिटे। जौहर पूर्ण हुआ, चित्तौर मुसलमानों के हाथ मे चला गया। प्राण गए, चित्तौर गया, पर मान नहीं गया; राजपूत मरते दम तक स्वतंत्र ही रहे और मारकर उन्होंने इस जीवन से छुटकारा पाया। स्वाधीनता ही राजपूत-जाति का धर्म रहा है। निरंतर युद्ध कर, हजारों को लपलपाती हुई अग्नि में आहुति देकर तथा स्वातंत्र्य-वेदी पर बलिदान करके ही यह जाति जीवित रही है और इस प्रकार अपनी रक्षा कर सकी है।

किंतु जब इधर मुस्लिम साम्राज्य का, फिरोज की मृत्यु के अनंतर, पतन हुआ, देहली के साम्राज्य की सत्ता उठ गई और सारे भारत में पुनः हिंदू-धर्म में नवीन स्फूर्ति के चिह्न दिखाई देने लगे तब पुनः राजपूतों ने जोर पकड़ा। एक बार वे फिर सारे भारत पर राज्य करने की सोचने लगे। राणा कुंभा के समय से धीरे धीरे वे शक्तिशाली होने लगे। महाराणा कुंभा की शक्ति, कीर्ति, विद्वत्ता तथा इस क्षणिक पुनरुत्थान का एक

मात्र स्मारक कुंभा का कीर्तिस्तंभ है। वह स्तंभ चित्तौड़ के दुर्ग की कलँगी के समान सुशोभित है और संसार को यह बता रहा है कि एक समय मुसलमान बादशाहो को हराकर पुनः राजपूत हिंदू-साम्राज्य के निर्माण करने का स्वप्न देखने लगे थे। जब लोदियों ने देहली के सिंहासन को सुशोभित किया तब मुस्लिम साम्राज्य को बढ़ानेका प्रयत्न किया गया था। किंतु जागीर-प्रथा तथा धर्मांधता ने देहली साम्राज्य की जड़ खोखली कर दी थी; लोदियो के प्रयत्न मृत-प्राय जाति के निष्फल प्रयत्न मात्र थे। राणा साँगा के नेतृत्व में राजपूत-शक्ति का संगठन होने लगा। अपनी सेना बढ़ाने तथा देहली के साम्राज्य को नष्ट करने के लिये उन्होने अफगानिस्तान के शासक बाबर से संधि करनी चाही। किंतु बाबर एकच्छत्र राज्य करना चाहता था। भारत को देखकर उसके मुख से लार टपकी पड़ती थी। पानीपत का युद्ध हुआ ; इब्राहीम हारा और खेत रहा। सन् १५२७ ई० में बाबर ने राजपूतों पर धावा किया। राणा पहले से ही सुसज्जित थे। खानवा में घोर युद्ध हुआ; किंतु राजपूतों की जिस राजनीतिक अदूरदर्शिता, अहंकार उदारता तथा कुलाभिमान ने अबतक उन्हें हराया था वे उन्हे इस बार कैसे विजयी होने देते ? "राजपूतों की हार हुई और इस पराजय से राजपूतों का वह प्रताप जो महाराणा कुंभा के समय से बहुत बढ़ा-चढ़ा और इस समय तक अपने शिखर पर पहुँच चुका था, एकदम कम हो गया, जिससे भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति में राजपूतो

का उच्च स्थान न रह सका। राजपूतो की शायद ही कोई ऐसी शाखा हो, जिसके राजकीय परिवार में से कोई न कोई प्रसिद्ध व्यक्ति इस युद्ध में काम न आया हो। इस युद्ध का दूसरा परिणाम यह हुआ कि मेवाड़ की प्रतिष्ठा और शक्ति के कारण राजपूतों का जो संगठन हुआ था, वह टूट गया। इसका तीसरा और अंतिम परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष में मुगलों का राज्य स्थापित हो गया और बाबर स्थिर रूप से भारतवर्ष का बादशाह बना।" यों यह खानवा का युद्ध राजपूत-जाति के इतिहास में तराइन के दूसरे युद्ध तथा हल्दी घाटी की लड़ाई के समान ही बड़े महत्त्व का है। यद्यपि राजपूत-जाति ने अनगिनत योद्धा तथा असंख्य वीर पैदा किए हैं, किंतु फिर भी पृथ्वीराज, राणा साँगा, प्रताप तथा दुर्गादास राजपूत-जाति के ही नहीं, भारतीय इतिहास के मुकुटमणि हैं।

सन् १५५६ ई० में भारत के सिंहासन पर राजपूत-जाति का अनन्य मित्र तथा उसके स्वातंत्र्य का अनन्य शत्रु अकबर आरूढ़ हुआ। राजपूतों के स्वातंत्र्य-युद्ध ने एक नूतन स्वरूप ग्रहण किया। उनमें अब संगठन नहीं था और अकबर ने उनके प्रति अपनी नवीन नीति का प्रयोग आरंभ किया जिससे वह राजपूतों को अपना सहायक तथा मित्र बनाना चाहता था। वह उन्हें हराता था, किंतु अधीनता स्वीकार कर लेने पर उनको उनका राज्य लौटा देता था और उनके साथ बड़ी ही उदारता का

बर्ताव करता था। प्रायः सारे राजपूत राजघरानों ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली; किंतु हिंदुओं की आशा, एकमात्र चित्तौड़ के राणा पर अवलंबित थी। उन्होंने पराधीनता स्वीकार नहीं की। सोने के पिंजड़े में बंद होना उन्हें ठीक न लगा। उदयसिंह इस समय चित्तौड़ के महाराणा थे और उनमें यद्यपि राजकीय गुणों का अभाव था, किंतु फिर भी स्वातंत्र्य-प्रेम कूट कूटकर भरा था। सम्राट् अकबर ने चित्तौड़ पर धावा किया, घेरा डाला, उदयसिंह चितौड़ से निकल भागे और चित्तौड़ का दुर्ग जयमल और पत्ता के अधिकार में छोड़ गए। यह चित्तौड़ का तृतीय तथा अंतिम घेरा था। उदयसिंह के जाने के साथ ही मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ से सर्वदा के लिये उठ गई। इधर एक दिन जयमल रात के समय अकबर के हाथों बंदूक की गोली से मारा गया*। कोई बाहरी सहायता की आशा न थी। जौहर की तैयारियाँ हुई। स्त्रियाँ जल गईं और राजपूतों ने, जो कोई आठ हजार थे, केसरिया बाना पहना। चित्तौड़गढ़ के किवाड़ खुल गए। सारे वीर लड़ते लड़ते मारे गए, पत्ता वीरतापूर्वक लड़ा और खेत रहा। कर्नल टाड लिखते है—"जयमल और पत्ता के नाम मेवाड़ के घर घर में फैल गए और आज तक मेवाड़-निवासी उन्हे याद करते हैं। जब तक राजपूत-जाति में अपने पुरातन गौरव

---

* इस घटना के बारे में इतिहासकारों मे मतभेद है। जो मत अधिक प्रचलित है, उसी का यहाँ उल्लेख किया गया है। —लेखक।

का नाम मात्र भी रहेगा और जब तक गौरवशाली भूतकाल की स्मृति रहेगी, तब तक उन्हें कोई भूल नहीं सकता।" चित्तौड़ ही सारे संसार के इतिहास में स्वातंत्र्य-प्रेमी योद्धाओं की एक अतीत स्मृति है। हजारों वीर इस चित्तौड़ के लिये बलि हुए। राजधानी उठ गई, पुरातन गौरव नष्ट हो गया किंतु फिर भी आज वह पूजनीय है। "राजपूत-जाति के इतिहास में यह दुर्ग एक अत्यंत प्रसिद्ध स्थान है; जहाँ असंख्य राजपूत वीरों ने अपने धर्म और देश की रक्षा के लिये अनेक बार असिधारा रूपी तीर्थ में स्नान किया और जहाँ अनेक राजपूत वीरांगनाओं ने सतीत्व-रक्षा के निमित्त, धधकती हुई जौहर की अग्नि में कई अवसरों पर अपने प्रिय बाल-बच्चों सहित प्रवेश कर एक उच्च आदर्श उपस्थित किया जो चिरस्मरणीय रहेगा। राजपूतों ही के लिये नहीं, किंतु प्रत्येक स्वदेश-प्रेमी हिंदू-संतान के लिये क्षत्रियरुधिर से सिंची हुई यहाँ की भूमि के रजकण भी तीर्थरेणु के समान पवित्र हैं।" संसार में चितौड़ के समान शायद ही ऐसा कोई स्थान हो जहाँ इतना रुधिर बहा हो, जहाँ स्वतंत्रता देवी की वेदी पर इतनी स्त्रियों, बच्चों तथा पुरुषों का बलिदान हुआ हो। इसी कारण आज पुराने खंडहर अपनी जीर्ण हीन दशा में भी हिंदू-जाति के लिये पूजनीय है। वह खंडहर किला प्रत्येक हिंदू के ही लिये नहीं, किंतु प्रत्येक स्वातंत्र्य-प्रेमी के लिये एक पवित्र तीर्थ है। वहाँ की रेणु का एक

एक कण भी इतना पवित्र है कि उसका सानी संसार में शायद ही मिले। वहाँ का एक एक रेणु-कण रुधिर से पूर्ण है।

चित्तौड़ का पतन हुआ, हिंदुओ का पवित्र तीर्थ चला गया; पर उदयसिह तथा मेवाण के बाँके राजपूत कहाँ झुकने-वाले थे! स्वतंत्रता ही उनकी आराध्य देवी थी और उसकी प्राणप्रतिष्ठा की उन्होंने अरावली की उन पहाड़ियो मे उदय-पुर नगर को बसाकर। उन दूर अज्ञात वनो में, दुरूह घाटियो में तथा आकर्षण विहीन पहाड़ो में धीरे धीरे राजपूतों का सूर्य निकल रहा था। राणा प्रताप, उदयसिह के स्थान पर, गद्दी पर बैठा। प्रताप "स्वतंत्रता का पुजारी, अपने कुल गौरव का रक्षक एवं आत्माभिमान का अवतार था।" उसने, अधी-नता स्वीकार करना तो दूर रहा, अकबर को बादशाह तक नही कहा। वह राणा साँगा का सच्चा वंशज था। प्रताप को इस बात का पूरा पता था कि उसकी शक्ति कम है और उसके विरुद्ध उस प्रतापी अकबर के पास भारत का साम्राज्य ही नही, किंतु सारे राजस्थान की सहायता भी है। फिर भी वह झुके क्यो? उस काल के इतिहासमें एकही साथ राजपूत-जाति के निकृष्ट से निकृष्ट तथा उच्च से उच्च दृश्य दिखाई देते है। एक ओर वे राजपूत राजा थे जो अकबर के दरबार में विलासपूर्ण जीवन बिताते थे, अधीनता स्वीकार करके उसके कृपा-पात्र बने थे, जिनके लिये कोई भी सांसारिक सुख अलभ्य न था। दूसरी ओर वे मुट्ठी

भर राजपूत थे जिनको दिन भर में एक बार खाना भी नहीं मिलता था, जिनको निरंतर प्राणों का संकट रहता था, जो पृथ्वी पर खुली चट्टानों पर सोते थे, जिन्हें कई रातें बिना नींद लिए बीत जाती थीं, जिनके बच्चों तथा स्त्रियों के रहने के लिए स्थान भी न था, आज यहाँ तो कल वहाँ; किंतु फिर भी वे आत्माभिमान से पूर्ण शेर के समान सिर उठाए चले जाते थे। वे सोचते थे कि सुख खोया; राज्य भी गँवाया, किंतु स्वतंत्रता तो नहीं बेची। ये ही वे पुरुष थे जो गरीब रहकर भी, अगणनीय विपत्तियों द्वारा पीड़ित होने पर भी, यहाँ से वहाँ भागते भागते भी आज संसार के लिये पूजनीय बने हैं। उनके मुख कष्ट सहने के कारण कुम्हला गए थे, किंतु उनसे जो आभा निकलती थी उसका सामना करना—आँखे उठाकर उसकी तरफ देखना-कठिन था। वे स्वतंत्रता देवी के उपासक थे, उसके लिये वे राह के पथिक बने; पर उसके अनन्य भक्त बने रहे। यही कारण है कि अंत में स्वतंत्रता देवी ने उन्हें वरा और उनको पूजा तथा उनके गले में वह वरमाला डाली जो राजपूतों के अस्तित्व तक ही नहीं. किंतु जब तक हिंदू-जाति रहेगी भारत का एक बालक तक रहेगा, तब तक स्मृति-पटलपर बनी रहेगी। स्वतंत्रता के उन पुजारियों के कष्टों की वार्ता सुनकर, उनके अगम्य साहस को देखकर, उनकी अनन्य भक्ति की वार्ता पढ़कर, किसका सिर न झुकेगा ? कौन अभागा होगा, जिसके मुख से उनके प्रति श्रद्धा के शब्द न निकलेंगे ?

निरंतर युद्ध होता रहा, प्रतिदिन यज्ञ में आहुति पड़ती रही; अंत में एक दिन महायज्ञ हुआ। हल्दी-घाटी का मोर्चा था। राजा मानसिंह चिढ़कर, अकबर से कहकर, एक बड़ी शाही सेना लेकर मेवाड़ पर चढ़ दौड़े। राजपूतों का संहार हुआ। वे बड़ी वीरता से लड़े। हजारों काल के कवल बने। राणा प्रताप पर भी आ बनी थी, किंतु विधि का विधान कुछ दूसरा ही था। राजपूतों की बहुत क्षति हुई। कौन हारा, यह नहीं कहा जा सकता। यद्यपि यह मान लिया जाय कि राणा प्रताप हारे, किंतु हारकर भी वे ही जीते। इस युद्ध ने हारे हुए राणा को अमर कर दिया और जीतकर भी अकबर प्रताप के समान पूजनीय नहीं बन सका। अब प्रताप का रहा-सहा राज्य भी चला गया। एक एक करके सब दुर्ग जाने लगे, किंतु उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा। बारंबार चढ़ाइयाँ हुईं, फिर भी सम्राट् अकबर सफलमनोरथ नहीं हुए। अंत में जब महाराणा की मृत्यु हुई, तब "गहलोत राण जीती गयो।"

"थोड़े से स्वदेश-भक्त और कर्तव्य-परायण राजपूतों और भीलों की सहायता से अपने देश की स्वतंत्रता की" राणा ने रक्षा की और सारे जीवन भर अपने समय के संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यसंपन्न सम्राट् अकबर को चैन न लेने दिया। उस वीर के प्रति कौन श्रद्धांजलि अर्पण न करेगा?

राणा प्रताप ने इस लोक को छोड़ दिया। किंतु अपनी कर्तव्य-परायणता को वे यहीं छोड़ गए। उनकी मृत्यु के

अनंतर भी धीरे धीरे समय समय पर युद्ध चलता रहा और कभी भी मेवाड़ ने देहली की अधीनता स्वीकार न की। किंतु ज्योंही आलमगीर अपने भाइयों के रुधिर की नदी में स्नान कर सिंहासन पर बैठा, राजपूतों को स्वातंत्र्य-युद्ध के लिये पुनः तैयार होना पड़ा। उस समय मेवाड़ के सिंहासन को महाराणा राजसिंह सुशोभित कर रहे थे। औरंगजेब ने मारवाड़ के अधीश्वर जसवतसिंहजी को अपने मार्ग में से निकाल बाहर किया। दूर पहाड़ों में उनकी मृत्यु हुई। रानी अपने नवजात शिशु को लेकर लौटी। मारवाड़ राज्य की एकमात्र आशा—वह कुछ ही महीनों का बच्चा था। आलमगीर की आँख उस पर लग गई। मारवाड़ के ही नहीं, किंतु राजपूतों के सौभाग्य से उस समय एक ऐसा वीर वर्तमान था, जो शिशु महाराजा अजीत को बचा सका। अजीत का पालन-पोषण अज्ञात स्थान में हुआ। मारवाड़ राज्य को भी उसी वीर दुर्गादास ने नष्ट होने से बचाया। मारवाड़ पर भी शाही सेना के आक्रमण होने लगे, किंतु दुर्गादास के नेतृत्व तथा निरीक्षण में मारवाड़ के सरदार उसका सामना करते रहे। औरंगजेब को दुर्गादास का बहुत भय था। दुर्गादास ने अपनी चतुराई से प्रायः सारे राजपूतों को एकत्र करके सम्राट् का विरोध किया। तभी तो कवि कह उठता है—"इह ! माता पूत इस्यो जणे; जिस्यो दुर्गादास।" उस वीर के कड़क भरे आह्वान ने सारी राजपूत-जाति में पुनः

जान डाल दी, राजपूत पुन मुस्लिम सत्ता का विरोध करने को उठ खड़े हुए। इस बाँके वीर ने राजपूतों को फिर राणा प्रताप-वाले उन पुराने दिनों की याद दिला दी। दुर्गादास ने स्वामि-भक्ति, वीरता तथा साहस का एक अपूर्व उदाहरण उपस्थित किया। यही कारण है कि राजस्थान के इतिहास का विवरण लिखते लिखते एकाएक कर्नल टाड की लेखनी रुक गई तथा अपने निश्चित पथ को छोड़कर लिखने लगी—"जिस किसी को यह खयाल हो कि राजपूत वीरो में स्वदेश-भक्ति नही पाई जाती है वे इन ३० वर्षों के इतिहास को पढ़े, किसी भी देश के इतिहास के साथ इसकी तुलना करे और तभी उदार-हृदय राजपूतो के प्रति न्याय करें। यह इतिहास राजपूतो के निरंतर स्वदेश प्रेम तथा निर्लोभ राजभक्ति का एक विवरण है। जिन गुणो के कारण राजपूत पूजे जाते हैं, वे सब दुर्गादास में कूट कूटकर भरे थे; वीरता, राजभक्ति, सच्चाई तथा कठिनाई के समय धीरज रखना—ये सब गुण उसमे पूर्ण रूप मे पाए जाते थे और इसी कारण आज भी उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है।"

किंतु यह ज्योति एक बुझते हुए दीपक की अंतिम चमक थी। राजपूतो का शीघ्र ही पतन होने लगा। निरंतर युद्ध तथा विलास के कारण वे जीवन विहीन होने लगे थे। औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही उनके पतन का प्रारंभ हुआ था। औरंगजेब के साथ ही मुगल साम्राज्य का सितारा डूब गया। अब राजपूतों को

मुगल आक्रमणों की आशंका न रही। मराठों का जोर बढ़ता गया किंतु इनसे अपना पिंड छुड़ाने की तदबीर आसान थी। राजपूतों को अब आराम मिला। इस सुख तथा विलास ने ही उनको डुबो दिया। युद्ध के लिये ही उनका उत्थान हुआ था, युद्ध ही उनका जीवन था और यही कारण है कि युद्ध के समाप्त होने के साथ ही राजपूत भी निर्जीव हो गए।

राजपूतों का उत्थान हुआ था भारत के पतन के साथ और मुसलमानों के आगम-काल से ही वे चमके और ऐसे चमके कि कई बार मुस्लिम वीरता को भी उन्होने फीका कर दिया। किंतु मुस्लिम साम्राज्य के अंत के साथ ही राजपूतों ने भारत का राजनीतिक रंगमंच छोड़ दिया, या उस रंगमंच पर वे एक कोने में निश्चेष्ट पड़ गए, गाढ़ निद्रा में सो गए। जागीर–प्रथा के प्रचार के कारण ही वे प्रारंभिक दिनों में मुसलमानो का सामना कर सके थे, शासक का अंत हो जाता था, किंतु सरदार साम्राज्य का अंत न होने देते थे। किंतु समय के फेर के साथ ही जो पहले लाभप्रद थे वे ही हानिकारक हो गए; वही जागीर–प्रथा अब राजपूतों के पूर्ण पतन में सहायक हुई। योंही जगन्नियंता अपने निश्चित उद्देश्य को अदृष्ट रूप से कार्यरूप में परिणत करता है। कोई सात शताब्दी तक निरंतर स्वातंत्र्य–युद्ध करनेवाले राजपूत इकबारगी निश्चेष्ट हो जायँगे, यह एक ऐसी बात है जो आसानी से कोई नहीं मान सकता, किंतु यह एक कठोर ऐतिहासिक सत्य है।

साहित्यिक चंद्रमा

[श्रीयुत वियोगी हरि]

चंद्रमा पृथ्वी से कितनी दूरी पर है; उसका क्षेत्रफल क्या है, किससे प्रकाश पाता है आदि बातें जाननी हैं, तो ज्योतिर्विज्ञानियों से पूछिए, वे सर्वज्ञ हैं। आकाश-पाताल एक कर रहे हैं। इतना ही नहीं, उनके हाथ में ईश्वर की अस्ति तक का भाग्यनिर्णय है !

हमें इन सब प्रश्नों से कुछ मतलब नहीं। आग जाने, लुहार जाने। हम तो उस चंद्र की चर्चा चलाने आए हैं, जो साहित्य-संसार का श्रृंगार, संयोगियों का सुधासार, वियोगियों का विषागार, उपमाओं का भांडार एवं कल्पनाओं का आधार है। हमारे चंद्रमा का जन्म समुद्र से हुआ है। वह कुमुद-बांधव तथा रोहिणी-वल्लभ है। लक्ष्मी माता का सगा सहोदर होने से हम लोग उसे 'चंदा मामा' भी कहते हैं। साहित्य-विज्ञान में द्विजराज, सुधाकर, मृगलांछन आदि अनेक नामों से उसका उल्लेख किया गया है। वह भगवान् भूतभावन की भाल स्थली का भव्य भूषण है। विष्णु का मन ही है। चंद्रमा न होता तो बेचारे कवि

नायक नायिका के मुख-मण्डल की तुलना किससे करते ? भली-बुरी बातें किसे सुनाते ? कुमुद और चकोर की प्रीति किसके साथ जोड़ते ? और तो और, यामिनी-कामिनी का पाणिग्रहण किससे कराते ?

संस्कृत-साहित्य में चंद्रमा को लक्ष्य कर कवियों ने पृष्ठ के पृष्ठ रँग डाले हैं, श्रीहर्ष का चंद्रोपालंभ अद्वितीय और अपूर्व है। कालिदास और भवभूति ने भी कहीं कहीं इस विषय पर कलम तोड़ दी है। काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण एवं रस-गंगाधर प्रभृति ग्रंथों मे चंद्र पर ऐसी ऐसी साहित्यिक सूझे मिलती हैं कि जिन्हे पढ़कर हृदय मन्त्रमुग्धवत् हो जाता है। वास्तव में कवियों के लिये चंद्रमा एक ऐसा आवश्यक अंग हो गया है कि जिसके विना संयोग या वियोग शृंगारमे चमत्कार आ ही नहीं सकता। इस पर जितनी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ मिलती हैं, उतनी कदाचित् ही किसी दूसरे विषय पर हों। संस्कृत के एक कवि ने उत्प्रेक्षाओं की क्या ही अनोखी और चोखी माला गूँथी है—

लक्ष्मीक्रीड़ातड़ागो, रतिधवलगृहं दर्पणो दिग्वधूनां
पुष्पं श्यामालतायास्त्रिभुवनजयिनो मन्मथस्यातपत्रम्।
पिंडीभूतं हरस्य स्मितममरसरित्पुंडरीको, मृगांकः
ज्योत्स्नापीयूषवापी जयति सितवृपस्तारको गोकुलस्य ॥

जान पड़ता है, यह चंद्रमा भगवती लक्ष्मी का केलि-सरोवर है अथवा त्रिलोक-सुंदरी रति का धवल धाम है; या दिशारूपी ललनाओं के मुख देखने का स्वच्छ दर्पण या निशारूपी

श्यामा लता का श्वेत पुष्प तो नहीं है ? संभव है। यह कामदेव का श्वेत छत्र या भगवान भूतनाथ का पिंडीभूत अट्टहास्य हो। कहीं आकाश-गंगा में विकसित कमल का फूल न हो ! हो न हो, यह कौमुदी-रूपी सुधा का सरोवर है। हमें तो यह निश्चय होता है कि तारारूपी गौओं के बीच मे यह एक सुंदर सफेद बैल है।

खूब ! एक से एक बढ़कर सूझ से काम लिया गया है। आकाश-पाताल को एक कर दिया है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने, चद्रमा पर, क्या ही सुंदर कल्पनाओं से काम लिया है—

हसो यथा राजतपंजरस्थ. सिहो यथा मदरकदरस्थः।
वीरो यथा गर्वितकुंजरस्थश्चंद्रोऽपि बभ्राज तथांबरस्थः॥

पिंजड़े के भीतर जैसे हस, मंदराचल की गुफा में जैसे सिंह तथा मतवाले हाथी पर जैसे शूरवीर शाभायमान होता है, उसी प्रकार आकाश के बीच में चद्रमा विराजमान हो रहा है।

'सिहो यथा मदरकदरस्थः' की छाया पर गुसाईं तुलसीदास ने 'पूरब दिसि-गिरि-गुहा-निवासी' लिखकर 'यद्रामायणे निगदितं' यह अपना प्रवचन सिद्ध किया है। कवि-कल्पना के आचार्य केशवदास ने भी चद्रमा का विलक्षण वर्णन किया है—

फूलन की सुभ गेद नई। सूँघि सची जनु डारि दई॥
दर्पन सौ ससि श्री रति को। आसन काम महीपति को॥

मोतिन को श्रुति-भूषन भनो। भूलि गई रवि की तिय मनो॥
अंगद को पितु सौ सुनिए। सोहत तारहि संग लिए॥
भूप मनोभव छत्र धरेउ। लोक वियोगिन को विडरेउ॥
देवनदी-जल राम कह्यो। मानहुँ फूलि सरोज रह्यो॥
फेन किधौं नभ-सिंधु लसै। देवनदी-जल हंस बसै॥

चारु-चंद्रिका-सिंधु में, सीतल स्वच्छ सतेज।
मनो सेषमय सोभिजै, हरिणाधिष्ठित सेज॥

इन सब में एक कल्पना बड़ी ही अनूठी है। दिन भर के परिश्रांत सूर्य संध्या-समय अपनी उत्कंठिता रमणी के यहाँ जा रहे हैं। पति का आगमन सुन पतिव्रता कामिनी पति से मिलने को तुरंत दौड़ आई। ंगार तक ठीक ठीक नहीं कर पाया था। उतावली में उसका एक कर्णफूल छूट गया। यह चंद्रमा वही कर्णफूल है!

कभी चंद्रमा मंदाकिनी का धवल कमल कहा जाता है, तो कभी आकाश-रूपी समुद्र का फेन। कहीं वह रति का दर्पण बन जाता है, तो कहीं कामदेव का राज-छत्र। कल्पनाओं का कुछ ठिकाना है! सुंदर मुख के लिये तो सिवा चंद्र के दूसरी उपमा ही नहीं। इस सब मान प्रतिष्ठा से चंद्रमा को बड़ा घमंड होगा। मन ही मन कहता होगा कि मेरे समान सुंदर, सुशील और सम्मान-पात्र कदाचित ही कोई हो। पर, चंद्र-देव! इस घमंड में न भूले रहना। जिन कवियों ने तुम्हे सातवे अर्श पर चढ़ा रखा है, वही तुम्हें फर्श पर गिराने को

तैयार हैं। कवियों का क्या भरोसा? ये साँप के बच्चे हैं। इनसे बहुत बच बचकर चलना चाहिए। देखो, इन लोगों ने जितनी तुम्हारी प्रशंसा नहीं की उतनी निंदा कर डाली है। सीताजी के मुख से तुम्हारी पटतर दी जाने को थी, पर विचार करने पर यह मालूम हुआ कि ऐसा करना महा अनुचित है। तुम तो उनके मुख के आगे कुछ भी नहीं। देखो न—

जनम सिंधु पुनि बंधु विष, दिन मलीन सकलंक।
सियमुख-समता पाव किमि, चंद्र बापुरो रंक॥

इतना ही नहीं, तुममें और भी कई दोष हैं—

घटइ बढ़इ बिरहिनि-दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहिं पाई॥
कोक-शोक-प्रद पंकज-द्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥
वैदेही-मुख पटतर दीन्हें। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हें॥

—तुलसी

तुम्हारे साथ उपमा देने के विचार मात्र से प्रायश्चित्त का भागी बनना पड़ेगा। तुममें सबसे बड़ा ऐब तो यह है कि तुम सदा विरही-जनों को अपनी शीतल किरणों से जलाया करते हो। बड़े विरोध की बात है। कहीं शीतलता में भी दाहकता होती है? हाँ, अवश्य। न जाने, किसने तुम्हारा 'शीतकर' नाम रख दिया—

हौं ही बौरी बिरह-बस, कै बौरो सब गाम।
कहा जानिकै कहत हैं, ससिहि सीत-कर नाम॥

—बिहारी

एक विरहिणी नायिका कहती है—विरह-वश मैं ही बावली हो गई हूँ; या गाँव भर बावला है ? वे लोग क्या जानकर इस अंगार को 'शीतकर' कहते हैं ?

तू बावली नहीं है, गाँववाले ही बावले हैं। अरी, यह चंद्रमा ही नहीं है। मूर्ख लोग इसे चंद्रमा या शीतकर कहते होंगे। फिर कौन है ? ग्रीष्म-ऋतु का प्रचंड मार्तंड। देखती नहीं है, अंगारों के समान अपनी विषम किरणों से समस्त संसार को भस्मसात करता हुआ यह साक्षात् सूर्य निकल रहा है—

अंगारप्रखरैः करैः कवलयन्नेतन्महीमंडलम् ।
मार्तंडोऽयमुदेति केन पशुना लोके शशांकीकृतः ॥
—पंडितराज जगन्नाथ

फिर भी संदेह है ?

विष-संयुत कर-निकर पसारी। जारत विरहवंत नर नारी ॥
—तुलसी

वास्तव में, यह धधकती हुई आग का एक बड़ा भारी गोला है। नहीं, इसे जलता हुआ भाड़ कहना चाहिए। विरही-जनों के भूनने के लिये ब्रह्मा ने इसे बनाया है। यह भी संदेह होता है कि कहीं यह विषैला सफेद साँप न हो। शेषनाग के वंश के सफेद साँप होते ही हैं। संभव है, उसी वंश का यह भी हो। महाकवि गंग ने भी चंद्रमा को साँप ही साबित किया है—

सेत सरीर हिए विष स्याम कला फन री मन जान जुन्हाई।
जीभ मरीचि दसों दिसि फैलति काटति जाहि वियोगिनि ताई॥
सीस ते पूछ लौं गात गर्यो पै डसे बिन ताहि परै न रहाई।
सेस के गोत के ऐसेहि होत हैं चंद नही ये फनिद है माई॥

मरते मरते भी दुष्टो की दुष्टता नहीं जाती। सिर से पूँछ तक इसका सारा शरीर गल गया है, फिर भी इस साँप को काटे बिना कल नहीं पड़ती!

इसमें संदेह नहीं कि इसकी किरणे तीक्ष्ण और विषैली हैं। पत्थर तक इन किरणों से पिघलकर मोम हो जाता है, फिर मनुष्यों का पूछना ही क्या। तिस पर, सुकुमार शरीरवालो की तो और भी मौत है!

रात्रिराज! सुकुमारशरीरः कः सहेत तव नाम मयूखान्।
स्पर्शमाप्य सहसैव यदीयं चंद्रकांतदृषदोपि गलंति॥

—मयंक

यह बिल्कुल सफेद झूठ है कि चंद्रमा का नाम सुधाकर है। सुधाकर होता तो भला क्यों बेचारे वियोगियो की हत्या सर पर चढ़ाता? पर ईश्वर बड़ा मालिक है। जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल देता है। इस निर्दय चंद्रमा की भी अकल ठिकाने लगनेवाला कोई है, और वह है वीरवर राहु। ग्रहण के समय एक न चलती होगी। राहु के आगे, जनाब चाँद साहिब, आपकी सारी चालाकी चंपत हो जाती है। उस दिन तुम्हें छठी का दूध याद आता होगा। न जाने, राहु

के कराल गाल से तुम कैसे जीवित निकल आते हो। राहु तुम्हें जान-बूझकर उगल देता है, क्योंकि तुम्हारी विष-ज्वाला उसे सहन न होती होगी। अच्छा होता, यदि किसी न किसी तरह वह तुम्हें स्वाहा कर देता। पर, पापियों की आयु बड़ी लंबी होती है। तुम क्यों मरोगे? चंद्रमा, तुमने लगभग सभी पाप किए हैं। न जाने, अंत में तुम्हारी क्या दुर्गति होगी। तुम्हारे पीछे तुम्हारे पाप समुद्र की तो पूरी दुर्दशा हो ही चुकी, अब तुम्हारी चाहे जो हो। न तुम सरीखे कुपूत होते, न बेचारे को इतनी आफतें भोगनी पड़तीं।

ऐसे मतिमंद चन्द धिग है अनंद तेरो,
जो पै विरहिनि जरि जात तेरे ताप तें।
तू तो दोषाकर दूजे धरे है कलंक उर,
तीसरे कपालि संग देखौ सिर छाप ते।
कहै मतिराम, हाल जाहिर जहान तेरो,
वारुनी के वासी भासी रवि के प्रताप ते।
बाँध्यो गयौ, मथ्यो गयौ; पियो गयौ, खारो भयो,
बापुरो समुद्र तो कुपूत ही के पाप ते॥

रामचंद्रजी ने बाँधा, देवताओं और राक्षसों ने अमृत के लिये मथन किया, अगस्त्य ने आचमन कर डाला और खारा है ही। बेचारे समुद्र को तुम्हारे कुकर्मों का फल भोगना पड़ा!

कर्म करै कोउ और ही, और पाव फल-भोग।
अति विचित्र भगवंत गति, को जग जानइ जोग॥
—तुलसी

हे मृगलांछन! पाप छिपाए नहीं छिपता, किसी न किसी दिन उजागर हो ही जाता है। करोड़ों वियोगियों का रुधिर पान करके तुम कुछ मोटे नही हो गए। घटने-बढ़ने का असाध्य रोग भी नहीं दूर हुआ। हाँ, मुँह बेशक काला हो गया। तुम्हारा यह कलुष-कलंक मरने पर भी न छूटेगा। मदिरा-पान क्या बट्टेखाते जायगा? वियोगियों का जला देना क्या हँसी-खेल है? अभी तो जरासी कारिख लगी है, कुछ दिनों में सारा मुँह काला हो जायगा। तुम्हारी कालिमा पर भी कवियों ने कई कल्पनाएं की हैं। आलम कहते हैं—

विधु ब्रह्म कुलाल को चक्र कियो मधि राजति कालिमा रेनु लगी।
छबि धौं सुरभीर पियूख की कीच कि बाहन पीठ की छाँह खगी॥
कवि आलम रैनि सँजोगिनि है पिय के सुख संगम रंग पगी।
गए लोचन बूड़ि चकोरन के सु मनो पुतरीन की पाँति जगी॥

अंत की क्या ही अनोखी सूझ है—"गए लोचन बूड़ि चकोरन के सु मनो पुतरीन की पाँति जगी"। चकोरों ने तुम्हारी सुंदरता देखते देखते अपनी आँखे डुबो दीं, तल्लीन कर दीं। यह कालिमा उन्हीं की पुतलियों की है, आँख के तारों की है। चकोर की लगन भी आदर्शरूप है। अहा!

चिनगी चुगै अँगार की चुगै कि चंद-मयूख।

—विहारी

चकोर अंगार की चिनगारियाँ क्यों चुगता है? इसलिये

कि आग खाकर मर जाऊँ। फिर ? भस्म हो जाऊँ और वह भस्म शिवजी अपने मस्तक पर चढ़ाएँ; चंद्रशेखर के ललाट पर प्यारे चंद्रमा का वास है ही। बस, वहाँ उससे भेंट हो जायगी। आग चुगने का यही तात्पर्य है।

चिनगी चुगत चकोर यों, भसम होइ यह अंग।
ताहि रमावै शिव तहाँ, मिलै पाउ ससि संग॥

कुमुद-बाँधव, तुम्हें भी चकोर का कुछ ख्याल है ? न होगा, तुम बड़े ही कठोर हो। तुम्हारा हृदय एकदम काला है।

विष-रस भरा कनक घट जैसे।

अस्तु तुम्हारी कालिमा पर गुसाईं तुलसीदास ने भी कुछ सूक्तियाँ लिखी हैं। श्रीरामचंद्रजी के पूछने पर सुग्रीव प्रमुख मंत्री उत्तर देते है—

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महँ प्रकट भूमि की छाई॥
मारेहु राहु ससिहि कह कोई। उर महँ परी स्यामता सोई॥
कोउ कह जब विधि रति मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रकट इंदु-उर माहीं। तेहि मग देखिय नभ परिछाहीं॥

मंत्रियों से यथेष्ट उत्तर न पाकर प्रभु स्वयं बोले—

कह प्रभु, गरल बंधु ससि केरा। अति प्रियतम उर दीन्ह बसेरा॥

भक्तवर हनुमान्‌जी ने हाथ जोड़ कर कहा—

कह हनुमंत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति तेहि उर बसत, सोइ स्यामता भास॥

बलिहारी ! क्या ही अनोखी उक्ति है !

अब तक तो यही सुनने में आया था कि चंद्रमा की उत्पत्ति समुद्र से है; पर बेनी कवि इस संबंध की एक निराली ही बात बतला रहे हैं। उनकी राय में चंद्रमा की उत्पत्ति यों हुई है—

राधे कों बनाय बिधि धोयो हाथ जाम्यो रंग,
ताको भयो चंद्र कर झारे भय तारे हैं॥

जब ब्रह्मा राधिकाजी को बना चुका, तब हाथ धोकर चुपचाप बैठ गया। समझ गया होगा कि अब इनसे सुंदर कौन बन सकेगा! हाथ धोने से जो रंग छूटा, उसका, जम जाने पर, चंद्रमा बन गया और हाथ झाड़ देने से जो इधर उधर बूँदे गिरीं, वही तारे हो गए। स्यात् इसी कारण से शिवजी ने इसे अपने मस्तक पर धारण किया हो। पर भगवान् भूतभावन की कृपा बंक मयंक पर है, पूर्ण मृगांक पर नहीं। पद्मकोट के रसिक-भ्रमर पंडित श्रीधर पाठक ने इस बंक मयंक पर बड़ी ही उत्तम उत्प्रेक्षाएँ लिखी हैं—

दिसि-भामिनि-भ्रूभंग, काल-कामिनि निहंग असि॥
कै जामिनि रही अधर-बिंब सौं मंद हाँसि हँसि॥
मंदाकिनि-तट पर्‍यो तृषित जल-हीन मीन कोइ।
तड़पि रह्यो तन छीन व्योमचर कै नवीन कोइ॥
वृत्र-विदारक इंद्र-कुलिस की कुटिल नौंक तू।
निसि-विरहिनि तन लगी मदन की किधौं जौंक तू॥
निसा-योगिनी भाल भस्म को बाँकौ टीकौ।

कै माया महिषी-किरीट-छाया सुश्री कौ ॥
कै सुमेरु सुचिवर्न स्वर्नसागर को कौड़ा।
कै सुर-कानन कदलि-मूल को कोमल बौंड़ा ॥
किधौं स्वर्ग-फुलवारी के माली को हँसिया।
कै अमृत एकत्र करन की सेत अँकुसिया ॥
रवि-हय-खुर की छाप किधौं, कै नाल नुकीलो।
काल-चक्र की हाल परी खंडित, कै कोली ॥
नभ-आसन-आसीन कोई कै तपोलीन ऋषि।
कै कछु जोति मलीन, कृसित सोइ कलाछीन ससि ॥

सब ने षोडश-कला-युक्त चद्रमा का वर्णन किया है, पर हमारे पाठकजी ने दो ही कलावाले वंक मयंक पर कमाल हासिल कर दिखाया है।

मयंक! तुम सदा टेढ़े रहते, तो राहु को तुम्हें ग्रसने का कभी साहस न होता। कहा भी है—

वक्र चंद्रमहि ग्रसइ न राहू।

वक्र चंद्रमा से राहु इसी से डरता है कि कहीं यह जोंक की तरह चपटकर रक्त न चूस ले। अथवा हँसिया की तरह काट कर काम तमाम न कर डाले। पर, सदा एक सी स्थिति में रहना चंद्रमा के भाग्य में नहीं लिखा। पौष्टिक पदार्थों का सेवन करते करते जैसे तैसे पूर्णिमा तक हृष्ट-पुष्ट हुए भी, तो फिर रोग ने आ धर दबाया। बिमारी बढ़ती ही गई। यहाँ तक कि अमावस की रात काल-रात्रि हो गई। इस रोग को स्वर्ग के वैद्यराज

अश्विनीकुमार तक दूर नहीं कर सके। औरों की गिनती ही क्या? हाँ, एक उपाय से निःसंदेह चंद्रमा का रोग नष्ट हो सकता है। यदि यह विरही-जनों का रुधिर पान करना छोड़ दे, तो मिनटो में बीमारी चली जाय। कुपथ्य करने से कहीं औषध प्रभाव डाल सकती है? अब भी चंद्रमा परहेज से चलने लगे तो एक भी रोग न रहे, सदा हृष्ट-पुष्ट रहे, नित्य ही पूर्णमासी का आनंद भोगे। पर वह दुर्बुद्धि हमारे उपाय के अनुसार क्यों चलने लगा!

जाको प्रभु दारुण दुख देहीं। ताकी मति पहलेहि हरि लेहीं॥

निशानाथ! अब भी चेत जाओ, नहीं तो कोई तुम्हें कौड़ी दाम पर भी न पूछेगा। हमने तो यहाँ तक सुना है कि तुम अपने पद से हटाए जानेवाले हो। महाकवि बिहारी को तुम्हारी जरूरत नहीं रही। उन्हें एक ऐसी चंद्रमुखी नायिका मिल गई है, जो नित्य ही पूर्णिमा की छटा दिखा देती है। असली पर्व की पूनो जानने के लिये पंचांग से काम ले लिया जाता है। अब तुम किस काम के रहे?

पत्रा ही तिथि पाइयतु, वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यो ही रहै, आनन-ओप-उजास॥

कहो, बर्खास्त हुए न? पेंशन की भी आशा न करना। क्योंकि तुम्हारे और तो सब कसूर माफ हो जायँगे, पर एक माफ न होगा। तुमने एक दिन भगवान् कृष्ण की अवज्ञा की थी। वे तुम्हे बुलाते ही रहे, पर तुमने गर्ववश अनसुना

कर दिया। यदि तुम नीचे उतरकर नंदनदन का मनोरंजन कर देते, तो तुम्हारा क्या विगड़ जाता ? वाल-गोविद ने तुम्हें लाल-लाल खिलौना समझा था। तुम्हारे साथ हँसते, नाचते, कूदते; पर यह सुख—यह रस—तुम्हें नहीं बदा था ! श्रीकृष्ण तुम्हें देखकर कैसे मचल गए हैं ! अपनी यशोदा मैया से कहते है—

मैया यह मीठो कै खारो। देखत लगत मोहि यह प्यारो ॥
देहि मँगाय निकट मैं लैहौ। लागी भूख चद मै खैहौ ॥

स्यात् इसी से न आए होगे, कि कही श्रीकृष्ण मुझे सचमुच ही न खा जायँ। किंतु यह तुम्हारा अज्ञान है ! भगवान् तुम्हें क्या खाते, तुम्हारे काल को खा जाते। तुम्हे अमर कर देते; अस्तु।

यशोदाजी समझाने लगी कि लला ! चदा के ताईं हठ न करो—

देखत रहौ खिलौना चंदा। हठ नहि कीजै वाल-गोविदा ॥
मधु मेवा पकवान मिठाई। जो भावै सो लेहु कन्हाई ॥

कन्हैया नहीं माने, रोते ही रहे। यशोदा मैया ने एक थाली में पानी भरकर कृष्ण से कहा—

लेहु लाल यह चद्र मै, लीन्हो निकट बुलाय।
रोवै इतने के लिये, तेरी स्याम वलाय ॥

थाली में चद्रमा का प्रतिविंब देखकर बालकृष्ण कुछ

शांत हुए, पर जब पकड़ने से वह हाथ मे न आया तब फिर रोने लगे, फिर मचल गए—

लउँगो री मा चंदा लउँगौ। वाहि आपने हाथ गहौंगो॥
यह तो कलमलात जल माहीं। मेरे कर में आवत नाहीं॥

यशोदाजी बोलीं—लला, चदा तोको डरै है मारे डर के बेचारो भाजिकै पाताल पैठि गयो—

तुम तिहि पकरन चहत गुपाला। ताते ससि भजि गयो पताला॥
अब तुमतें ससि डरपत भारी। कहत, अहौं हरि सरन तुम्हारी॥

चंद्रदेव! यशोदाजी को धन्यवाद दो, जिन्होंने श्रीकृष्ण से तुम्हारी तरफ से इतनी अच्छी सिफारिश कर दी। जाओ, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। अशरणशरण कृष्णचंद्र तुम्हारा कल्याण करेंगे। क्या तुमने भगवान् का यह अभय-वचन नहीं सुना—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

बस, वही भक्तवत्सल भगवान् तुम्हे निष्कलंक कर सकेंगे, वही 'वैद्यो नारायणो हरिः' तुम्हारे सब रोगो का नाश करेंगे।

सच्ची वीरता

[सर्दार पूर्णसिंह]

सच्चे वीर पुरुष धीर, गंभीर और आजाद होते है। उनके मन की गंभीरता और शांति समुद्र की तरह विशाल और गहरी, या आकाश को तरह स्थिर और अचल होती है। वे कभी चंचल नहीं होते। रामायण में वाल्मीकिजी ने कुंभकर्ण की गाढ़ी नींद में वीरता का एक चिह्न दिखलाया है। सच है, सच्चे वीरों की नींद आसानी से नहीं खुलती। वे सत्त्वगुण के क्षार-समुद्र में ऐसे डूबे रहते हैं कि उनको दुनिया को खबर ही नहीं होती। वे संसार के सच्चे परोपकारी होते है। ऐसे लोग दुनिया के तख्ते को अपनी आँख की पलकों से हलचल में डाल देते हैं। जब ये शेर जागकर गर्जते हैं, तब सदियों तक इनकी आवाज की गूँज सुनाई देती रहती है, और सब आवाजे बंद हो जाती हैं। वीर की चाल की आहट कानों में आती रहती है और कभी मुझे और कभी तुझे मदमत्त

करती है। कभी किसी की और कभी किसी की प्राणसारंगी वीर के हाथ से बजने लगती है।

देखो हरा की कंदरा में एक अनाथ, दुनिया से छिपकर, एक अजीब नींद सोता है। जैसे गली में पड़े हुए पत्थर की ओर कोई ध्यान नहीं देता, वैसे ही आम आदमियों की तरह इस अनाथ को कोई न जानता था। एक उदारहृदया धन-संपन्ना स्त्री की वह नौकरी करता है। उसकी सांसारिक प्रतिष्ठा सिर्फ एक मामूली गुलाम की सी है। पर कोई ऐसा दैवी कारण हुआ जिससे संसार में अज्ञात उस गुलाम की बारी आई। उसकी निद्रा खुली। संसार पर मानों हजारों बिजलियाँ गिरीं। अरब के रेगिस्तान में बारूद की सी भड़क उठी। उसी वीर की आँखों की ज्वाला इंद्रप्रस्थ से लेकर स्पेन तक प्रज्वलित हुई। उस अज्ञात और गुप्त हरा की कंदरा में सोनेवाले ने एक आवाज दी। सारी पृथ्वी भय से काँपने लगी। हाँ, जब पैगंबर मुहम्मद ने "अल्लाहो अकबर" का गीत गाया तब कुल संसार चुप हो गया। और, कुछ देर बाद, प्रकृति उसकी आवाज की गूँज को सब दिशाओं में ले उड़ी। पक्षी "अल्लाह" गाने लगे और मुहम्मद के पैगाम को इधर-उधर ले उड़े। पर्वत उसकी वाणी को सुनकर पिघल पड़े और नदियाँ "अल्लाह, अल्लाह" का अलाप करती हुई पर्वतों से निकल पड़ीं। जो लोग उसके सामने आए वे उसके दास बन गए। चंद्र और सूर्य्य ने बारी बारी से उठकर

सलाम किया। उस वीर का वल देखिए कि सदियो के बाद भी संसार के लोगों का बहुत सा हिस्सा उसके पवित्र नाम पर जीता है और अपने छोटे से जीवन को अति तुच्छ समझ-कर उस अनदेखे और अज्ञात पुरुप के, केवल सुने-सुनाए, नाम पर कुर्बान हो जाना अपने जीवन का सवसे उत्तम फल समझता है।

सत्त्वगुण के समुद्र में जिनका अंतःकरण निमग्न हो गया वे ही महात्मा, साधु और वीर हैं। वे लोग अपने क्षुद्र जीवन को परित्याग कर ऐसा ईश्वरीय जीवन पाते हैं कि उनके लिये संसार के सव अगम्य मार्ग साफ हो जाते हैं। आकाश उनके ऊपर वादलों के छाते लगाता है। प्रकृति उनके मनो-हर माथे पर राज-तिलक लगाती है। हमारे असली और सच्चे राजा ये ही साधु पुरुप हैं। हीरे और लाल से जड़े हुए, सोने और चाँदी से जर्क वर्क सिंहासन पर बैठनेवाले दुनिया के राजाओ को तो, जो गरीव किसानों की कमाई हुई दौलत पर पिंडोपजीवी होते हैं, लोगों ने अपनी मूर्खता से वीर वना रखा है। ये जरी, मखमल और जेवरो से लदे हुए मांस के पुतले तो हरदम कॉपते रहते है। इंद्र के समान ऐश्वर्यवान् और वलवान् होने पर भी दुनिया के ये छोटे "जार्ज" वड़े कायर होते हैं। क्यों न हो, इनकी हुकूमत लोगों के दिलों पर नहीं होती। दुनिया के राजाओ के वल की दौड़ लोगों के शरीर तक है। हाँ; जव कभी किसी अक-

वर का राज लोगों के दिलों पर होता है तब इन कायरों की बस्ती में मानों एक बच्चा वीर पैदा होता है।

एक बागी गुलाम और एक बादशाह की बातचीत हुई। यह गुलाम कैदी दिल से आजाद था। बादशाह ने कहा—मैं तुमको अभी जान से मार डालूँगा। तुम क्या कर सकते हो? गुलाम बोला—"हाँ, मैं फाँसी पर तो चढ़ जाऊँगा, पर तुम्हारा तिरस्कार तब भी कर सकता हूँ।" बस इस गुलाम ने दुनिया के बादशाहों के बल की हद दिखला दी। बस इतने ही जोर और इतनी ही शेखी पर ये झूठे राजा शरीर को दुःख देते और मार-पीटकर अनजान लोगों को डराते हैं। भोले लोग उनसे डरते रहते हैं। चूँकि सब लोग शरीर को अपने जीवन का केंद्र समझते हैं; इसलिये जहाँ किसी ने उनके शरीर पर जरा जोर से हाथ लगाया वहीं वे मारे डर के अधमरे हो जाते हैं; केवल शरीर-रक्षा के निमित्त ये लोग इन राजाओं को ऊपरी मन से पूजा करते हैं। जैसे ये राजा वैसा उनका सत्कार! जिनका बल शरीर को जरा सी रस्सी लटकाकर मार देने भर ही का है, भला, उनका और उन बलवान् और सच्चे राजाओं का क्या मुकाबला जिनका सिंहासन लोगों के हृदय-कमल की पखड़ियों पर है? सच्चे राजा अपने प्रेम के जोर से लोगों के दिलों को सदा के लिये बाँध देते हैं। दिलों पर हुकूमत करने-वाली फौज, तोप, बन्दूक आदि के बिना ही वे शाहंशाह-जमाना होते हैं। मंसूर ने अपनी मौज में आकर कहा—"मैं खुदा

हूँ।" दुनिया के बादशाह ने कहा—"यह काफिर है।" मगर मंसूर ने अपने कलाम को बंद न किया। पत्थर मार मारकर दुनिया ने उसके शरीर की बुरी दशा की; परंतु उस मर्द के हर बाल से ये ही शब्द निकले—"अनलहक"—"अहं ब्रह्मास्मि" "मैं ही ब्रह्म हूँ"। सूली पर चढ़ना मंसूर के लिये सिर्फ खेल था। बादशाह ने समझा कि मंसूर मारा गया।

शम्स तबरेज को भी ऐसा ही काफिर समझकर बादशाह ने हुक्म दिया कि इसकी खाल उतार दो। शम्स ने खाल उतारी और बादशाह को, दर्वाजे पर आए हुए कुत्ते की तरह भिखारी समझकर, यह खाल खाने के लिये दे दी। देकर वह अपनी यह गजल बराबर गाता रहा—"भीख माँगनेवाला तेरे दर्वाजे पर आया है; ऐ शाहेदिल! कुछ इसको दे दे।" खाल उतारकर फेंक दी! वाह रे सत्पुरुष!

भगवान् शंकर जब गुजरात की तरफ यात्रा कर रहे थे तब एक कापालिक हाथ जोड़े सामने आकर खड़ा हुआ। भगवान् ने कहा—"माँग, क्या माँगता है?" उसने कहा—"हे भगवन् आजकल के राजा बड़े कंगाल हैं। उनसे अब हमें दान नहीं मिलता। आप ब्रह्मज्ञानी और सबसे बड़े दानी हैं। इसलिये मैं आपके पास आया हूँ। आप कृपा करके मुझे अपना सिर दान करें जिसकी भेट चढ़ाकर मैं अपनी देवी को प्रसन्न करूँगा और अपना यज्ञ पूरा करूँगा।"

भगवान् ने मौज में आकर कहा—"अच्छा, कल यह सिर उतारकर ले जाना और काम सिद्ध कर लेना।"

एक दफे दो वीर पुरुष अकबर के दर्बार में आए। वे लोग रोजगार की तलाश में थे। अकबर ने कहा—अपनी अपनी वीरता का सुबूत दो।" बादशाह ने कैसी मूर्खता की। वीरता का भला वे क्या सुबूत देते? परंतु दोनों ने तलवारें निकाल लीं और एक दूसरे के सामने कर उनकी तेज धार पर दौड़ गए और वहीं राजा के सामने क्षण भर में अपने खून में ढेर हो गये।

ऐसे दैवी वीर रुपया, पैसा, माल, धन का दान नहीं दिया करते। जब वे दान देने की इच्छा करते हैं तब अपने आपको हवन कर देते हैं। बुद्ध महाराज ने जब एक राजा को मृग मारते देखा तब अपना शरीर आगे कर दिया जिसमें मृग बच जाय, बुद्ध का शरीर चाहे चला जाय। ऐसे लोग कभी बड़े मौकों का इंतिजार नहीं करते; छोटे मौकों को ही बड़ा बना देते हैं।

जब किसी का भाग्योदय हुआ और उसे जोश आया तब जान लो कि संसार में एक तूफान आ गया। उसकी चाल के सामने फिर कोई रुकावट नहीं आ सकती। पहाड़ों की पस-लियाँ तोड़कर ये लोग हवा के बगोले की तरह निगल जाते हैं, उनके बल का इशारा भूचाल देता है और उनके दिल की हरकत का निशान समुद्र का तूफान देता है। कुदरत की

और कोई ताकत उनके सामने फटक नहीं सकती। सब चीजें थम जाती हैं। विधाता भी साँस रोककर उनकी राह को देखता है। यूरोप में जब रोम के पोप का जोर बहुत बढ़ गया था तब उसका मुकाबला कोई भी बादशाह न कर सकता था। पोप की आँखों के इशारे से यूरोप के बादशाह तख्त से उतार दिए जा सकते थे। पोप का सिक्का यूरोप के लोगों पर ऐसा बैठ गया था कि उसकी बात को लोग ब्रह्म-वाक्य से भी बढ़कर समझते थे और पोप को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे। लाखों ईसाई साधु-संन्यासी और यूरोप के तमाम गिर्जे पोप के हुक्म की पाबंदी करते थे। जिस तरह चूहे की जान बिल्ली के हाथ में होती है उसी तरह पोप ने यूरोप वासियों की जान आपने हाथ में कर ली थी। इस पोप का बल और आतंक बड़ा भयानक था। मगर जरमनी के एक छोटे से मंदिर के एक कंगाल पादरी की आत्मा जल उठी। पोप ने इतनी लीला फैलाई थी कि यूरोप मे स्वर्ग और नरक के टिकट बड़े बड़े दामों पर बिकते थे। टिकट बेच बेचकर यह पोप बड़ा विषयी हो गया था। लूथर के पास जब टिकट बिक्री होने को पहुँचे तब उसने पहले एक चिट्ठी लिखकर भेजी कि ऐसे काम झूठे तथा पापमय हैं और बंद होने चाहिएँ। पोप ने इसका जवाब दिया—"लूथर! तुम इस गुस्ताखी के बदले आग में जिंदा जला दिए जाओगे।" इस जवाब से लूथर की आत्मा की आग और भी भड़की। उसने लिखा—

'अब मैंने अपने दिल में निश्चय कर लिया है कि तुम ईश्वर के तो नहीं किंतु शैतान के प्रतिनिधि हो। अपने आपको ईश्वर के प्रतिनिधि कहनेवाले मिथ्यावादी! जब मैंने तुम्हारे पास सत्यार्थ का संदेश भेजा तब तुमने आग और जल्लाद के नामों से जवाब दिया। इससे साफ प्रतीत होता है कि तुम शैतान की दलदल पर खड़े हो, न कि सत्य की चट्टान पर। यह लो तुम्हारे टिकटों के गट्ठे मैंने आग में फेंके। जो मुझे करना था मैंने कर दिया; जो अब तुम्हारी इच्छा हो करो। मैं सत्य की चट्टान पर खड़ा हूँ।" इस छोटे संन्यासी ने वह तूफान यूरोप में पैदा कर दिया जिसकी एक लहर से पोप का सारा जंगी बेड़ा चकनाचूर हो गया। तूफान में एक तिनके की तरह वह न मालूम कहाँ उड़ गया।

महाराज रणजीतसिंह ने फौज से कहा—"अटक के पार जाओ।" अटक चढ़ी हुई थी और भयंकर लहरें उठी हुई थीं। जब फौज ने कुछ उत्साह प्रकट न किया तब उस वीर को जरा जोश आया। महाराज ने अपना घोड़ा दरिया में डाल दिया। कहा जाता है कि अटक सूख गई और सब पार निकल गए।

दुनिया में जंग के सब सामान जमा हैं। लाखों आदमी मरने-मारने को तैयार हो रहे हैं। गोलियाँ पानी की बूँदों की तरह मूसलधार बरस रही हैं। यह देखो, वीर को जोश आया। उसने कहा—"हाल्ट" (ठहरो)। तमाम फौज

निःस्तब्ध होकर सकते की हालत में खड़ी हो गई। आल्प्स के पहाड़ों पर फौज ने चढ़ना ज्योंही असंभव समझा त्योंही वीर ने कहा—"आल्प्स है ही नहीं।" फौज को निश्चय हो गया कि आल्प्स नहीं है और सब लोग पार हो गए!

एक भेड़ चरानेवाली और सतोगुण में डूबी हुई युवती कन्या के दिल में जोश आते ही कुल फ्रांस एक भारी शिकस्त से बच गया।

अपने आपको हर घड़ी और हर पल महान् से भी महान् बनाने का नाम वीरता है। वीरता के कारनामे तो एक गौण बात हैं। असल वीर तो इन कारनामों को अपनी दिनचर्य्या में लिखते भी नहीं। पेड़ तो जमीन से रस ग्रहण करने में लगा रहता है। उसे यह ख्याल ही नहीं होता कि मुझमें कितने फल वा फूल लगेंगे और कब लगेंगे। उसका काम तो अपने आपको सत्य में रखना है—सत्य को अपने अंदर कूट कूटकर भरना है और अंदर ही अंदर बढ़ना है। उसे इस चिंता से क्या मतलब कि कौन मेरे फल खायगा या मैंने कितने फल लोगों को दिए।

वीरता का विकास नाना प्रकार से होता है। कभी तो उसका विकास लड़ने-मरने में, खून बहाने में, तलवार-तोप के सामने जान गँवाने में होता है; कभी प्रेम के मैदान में उसका झंडा खड़ा होता है। कभी जीवन के गूढ़ तत्त्व और सत्य की तलाश में बुद्ध जैसे राजा विरक्त होकर वीर हो जाते हैं।

कभी किसी आदर्श पर और कभी किसी पर वीरता अपना फरहरा लहराती है। परंतु वीरता एक प्रकार का इलहाम या दैवी प्रेरणा है। जब कभी इसका विकास हुआ तभी एक नया कमाल नजर आया; एक नया जलाल पैदा हुआ; एक नई रौनक, एक नया रंग, एक नई बहार, एक नई प्रभुता संसार में छा गई। वीरता हमेशा निराली और नई होती है। नयापन भी वीरता का एक खास रंग है। हिंदुओं के पुराणों की वह आलंकारिक कल्पना जिससे पुराणकारों ने ईश्वरावतारों को अजीब अजीब और भिन्न भिन्न वेष दिए हैं, सच्ची मालूम होती है; क्योंकि वीरता का एक विकास दूसरे विकास से कभी किसी तरह मिल नहीं सकता। वीरता की कभी नकल नहीं हो सकती; जैसे मन की प्रसन्नता कभी कोई उधार नहीं ले सकता। वीरता देश-काल के अनुसार संसार में जब कभी प्रकट हुई तभी एक नया स्वरूप लेकर आई, जिसके दर्शन करते ही सब लोग चकित हो गए—कुछ बन न पड़ा और वीरता के आगे सिर झुका दिया।

जापानी वीरता की मूर्ति पूजते हैं। इस मूर्ति का दर्शन वे चेरी के फूल की शांत हसी में करते हैं। क्या ही सच्ची और कौशलमयी पूजा है! वीरता सदा जोर से भरा हुआ ही उपदेश नहीं करती। वीरता कभी कभी हृदय की कोमलता का भी दर्शन करती है। ऐसी कोमलता देखकर सारी प्रकृति कोमल हो जाती है; ऐसी सुंदरता देखकर लोग मोहित हो जाते

हैं। जब कोमलता और सुंदरता के रूप में वह दर्शन देती है तब चेरी-फूल से भी ज्यादा नाजुक और मनोहर होती है। जिस शख्स ने यूरोप को 'क्रूसेड्ज' के लिये हिला दिया वह उन सबसे बड़ा वीर था जो लड़ाई में लड़े थे। इस पुरुष में वीरता ने आँसुओं और आहों का लिबास लिया। देखो, एक छोटा सा मामूली आदमी यूरोप में जाकर रोता है कि हाय हमारे तीर्थ हमारे वास्ते खुले नहीं और यहूद के राजा यूरोप के यात्रियों को दिक करते हैं। इस आँसू-भरी अपील को सुनकर सारा यूरोप उसके साथ रो उठा। यह आला दरजे की वीरता है।

बुलबुल की छाया को बीमार लोग सब दवाइयों से बढ़कर समझते थे। उसके दर्शनों ही से कितने बीमार अच्छे हो जाते थे। वह अव्वल दर्जे का सच्चा पक्षी है जो बीमारों के सिरहाने खड़ा होकर दिन-रात गरीबों की निष्काम सेवा करता है और गंदे जख्मों को जरूरत के वक्त अपने मुख से चूसकर साफ करता है। लोगों के दिलों पर ऐसे प्रेम का राज्य अटल है। यह वीरता पर्दानशीन हिंदुस्तानी औरत की तरह चाहे कभी दुनिया के सामने न आए, इतिहास के वर्कों के काले हर्फों में न आए, तो भी संसार ऐसे ही बल से जीता है।

वीर पुरुष का दिल सबका दिल हो जाता है। उसका मन सबका मन हो जाता है। उसके खयाल सबके खयाल हो जाते है। सबके संकल्प उसके संकल्प हो जाते हैं। उसका

बल सबका बल हो जाता है। वह सबका और सब उसके हो जाते हैं।

वीरों के बनाने के कारखाने कायम नहीं हो सकते। वे तो देवदार के दरख्तों की तरह जीवन के अरण्य में खुद-ब-खुद पैदा होते हैं और बिना किसी के पानी दिए; बिना किसी के दूध पिलाए, बिना किसी के हाथ लगाए, तैयार होते हैं। दुनिया के मैदान में अचानक ही सामने आकर वे खड़े हो जाते हैं, उनका सारा जीवन भीतर ही भीतर होता है। बाहर तो जवाहिरात की खानों की ऊपरी जमीन की तरह कुछ भी दृष्टि मे नहीं आता। वीर की जिंदगी मुश्किल से कभी कभी बाहर नजर आती है। उसका स्वभाव तो छिपे रहने का है।

वह लाल गुदड़ियों के भीतर छिपा रहता है। कंदराओं में, गारों में, छोटी छोटी झोपड़ियों में बड़े बड़े वीर महात्मा छिपे रहते हैं। पुस्तको और अखबारों को पढ़ने से या विद्वानों के व्याख्यानों को सुनने से तो बस ड्राइंग-हाल के वीर पैदा होते हैं, उनकी वीरता अनजान लोगों से अपनी स्तुति सुनने तक खतम हो जाती है। असली वीर तो दुनिया की बनावट और लिखावट के मखौलों के लिये नहीं जीते।

हर बार दिखाव और नाम की खातिर छाती ठोंककर आगे बढ़ना और फिर पीछे हटना पहले दरजे की बुजदिली है। वीर तो यह समझता है कि मनुष्य का जीवन एक जरा सी चीज है। वह सिर्फ एक बार के लिये काफी है। मानों

इस बंदूक में एक ही गोली है। हाँ, कायर पुरुष इसको बड़ा ही कीमती और कभी न टूटनेवाला हथियार समझते हैं। हर घड़ी आगे बढ़कर, और यह दिखाकर कि हम बड़े हैं, वे फिर पीछे इस गरज से हट जाते हैं कि उनका अनमोल जीवन किसी और अधिक बड़े काम के लिये बच जाय। बादल गरज गरजकर ऐसे ही चले जाते हैं; परंतु बरसनेवाले बादल जरा देर में बारह इंच तक बरस जाते हैं।

कायर पुरुष कहते हैं—"आगे बढ़े चलो।" वीर कहते हैं—"पीछे हटे चलो।" कायर कहते हैं—"उठाओ तलवार।" वीर कहते हैं—"सिर आगे करो।" वीर का जीवन प्रकृति ने अपनी शक्तियों को फजूल खो देने के लिये नहीं बनाया है। वीर पुरुष का शरीर कुदरत की कुल ताकतों का भंडार है। कुदरत का यह मरकज हिल नहीं सकता। सूर्य का चक्कर हिल जाय तो हिल जाय, परंतु वीर के दिल में जो दैवी केंद्र है वह अचल है। कुदरत के और पदार्थों की पालिसी चाहे आगे बढ़ने की हो; अर्थात् अपने बल को नष्ट करने की हो, मगर वीरों की पालिसी बल को हर तरह इकट्ठा करने और बढ़ाने की होती है। वीर तो अपने अंदर ही 'मार्च' करते हैं, क्योंकि हृदयाकाश के केंद्र में खड़े होकर वे कुल संसार को हिला सकते हैं।

बेचारी मरियम का लाड़ला, खूबसूरत जवान, अपने मद में मतवाला और अपने आपको शाहंशाह हकीकी कहनेवाला

ईसा मसीह क्या उस समय कमजोर मालूम होता है जब भारी सलीब पर उठकर कभी गिरता, कभी जख्मी होता और कभी बेहोश हो जाता है ? कोई पत्थर मारता है, कोई ढेला मारता है, कोई थूकता है, मगर उस मर्द का दिल नहीं हिलता। कोई क्षुद्रहृदय और कायर होता तो अपनी बादशाहत के बल की गुत्थियाँ खोल देता; अपनी ताकत को नष्ट कर देता; और संभव है कि एक निगाह से उस सलतनत के तख्ते को उलट देता और मुसीबत को टाल देता, परंतु जिसको हम मुसीबत जानते हैं उसको वह मखौल समझता था। "सूली मुझे है सेज पिया की, सोने दो मीठी मीठी नींद है आती।" अमर ईसा को भला दुनिया के विषय-विकार मे डूबे लोग क्या जान सकते थे ? अगर चार चिड़ियाँ मिलकर मुझे फाँसी का हुक्म सुना दें और मैं उसे सुनकर रो दूँ या डर जाऊँ तो मेरा गौरव चिड़ियों से भी कम हो जाय। जैसे चिड़ियाँ मुझे फाँसी देकर उड़ गईं वैसे ही बादशाह और बादशाहतें आज खाक में मिल गई हैं। सचमुच ही वह छोटा सा बाबा लोगों का सच्चा बादशाह है। चिड़ियाँ और जानवरों की कचहरियों के फैसलों से जो डरते या मरते हैं वे मनुष्य नहीं हो सकते। रानाजी ने जहर के प्याले से मीराबाई को डराना चाहा। मगर वाह री सचाई ! मीरा ने उस जहर को भी अमृत मानकर पी लिया। वह शेर और हाथी के सामने की गई, मगर वाह रे प्रेम ! मस्त हाथी और शेर ने देवी के चरणों की धूल

को अपने मस्तक पर मला और अपना रास्ता लिया। इस वास्ते वीर पुरुष आगे नहीं, पीछे जाते हैं। भीतर ध्यान करते हैं। मारते नहीं, मरते है।

वह वीर क्या जो टीन के वर्तन की तरह झट गरम और झठ ठंडा हो जाता है। सदियों नीचे आग जलती रहे तो भी शायद ही वीर गरम हो और हजारों वर्ष वर्फ उस पर जमती रहे तो भी क्या मजाल जो उसकी वाणी तक ठंढी हो। उसे खुद गरम और सरद होने से क्या मतलब? कारलायल को जो आजकल की सभ्यता पर गुस्सा आया तो दुनिया में एक नई शक्ति और एक नई जवान पैदा हुई। कारलायल ऍगरेज जरूर है; पर उसकी वोली सवसे निराली है। उसके शब्द मानो आग की चिनगारियाँ है जो आदमी के दिलों में आग सी लगा देती हैं। सब कुछ वदल जाय मगर कारलायल की गरमी कभी कम न होगी। यदि हजार वर्ष संसार मे दुखड़े और दर्द रोए जायँ तो भी बुद्धि की शांति और दिल की ठढक एक दर्जा भी इधर-उधर न होगी। यहाँ आकर भौतिक विज्ञान के नियम रो देते है। हजारों वर्ष आग जलती रहे तो भी थर्मामीटर जैसा का तैसा ही रहेगा। वावर के सिपाहियों ने और लोगो के साथ गुरु नानक को भी वेगार मे पकड़ लिया। उनके सिर पर बोझ रखा और कहा—"चलो।" आप चल पड़े। दौड़, धूप, वोझ, मुसीवत, बेगार मे पकड़ी हुई स्त्रियों का रोना, शरीफ लोगो का दुःख, गाँव के गाँव का जलना सब

किस्म की दुखदाई बातें हो रही हैं। मगर किसी का कुछ असर नहीं हुआ। गुरु नानक ने अपने साथी मर्दाना से कहा—"सारंगी बजाओ, हम गाते हैं।" उस भीड़ में सारंगी बज रही है और आप गा रहे हैं। वाह री शांति!

अगर कोई छोटा सा बच्चा नेपोलियन के कंधे पर चढ़कर उसके सिर के बाल खींचे तो क्या नेपोलियन इसको अपनी बेइज्जती समझकर उस बालक को जमीन पर पटक देगा, जिसमें लोग उसको बड़ा वीर कहें? इसी तरह सच्चे वीर जब उनके बाल दुनिया की चिड़ियाँ नोचती हैं तब कुछ परवा नहीं करते, क्योंकि उनका जीवन आसपासवालों के जीवन से निहायत ही बढ़-चढ़कर ऊँचा और बलवान् होता है। भला ऐसी बातों पर वीर कब हिलते हैं। जब उनकी मौज आई तभी मैदान उनके हाथ है।

जापान के एक छोटे से गाँव की एक झोपड़ी में छोटे कद का एक जापानी रहता था। उसका नाम ओशियो था। यह पुरुष बड़ा अनुभवी और ज्ञानी था। बड़े कड़े मिजाज का, स्थिर, धीर और अपने खयालात के समुद्र में डूबा रहनेवाला पुरुष था। आसपास रहनेवाले लोगों के लड़के इस साधु के पास आया-जाया करते थे और यह उनको मुफ्त पढ़ाया करता था। जो कुछ मिल जाता वही खा लेता था। दुनिया की व्यावहारिक दृष्टि से वह एक किस्म का निखट्टू था, क्योंकि इस पुरुष ने संसार का कोई बड़ा काम नहीं

किया था। उसकी सारी उम्र शांति और सत्त्वगुण में गुजर गई थी। लोग समझते थे कि वह एक मामूली आदमी है। एक दफा इत्तिफाक से दो-तीन फसलों के न होने से इस फकीर के आसपास के मुल्क में दुर्भिक्ष पड़ गया। दुर्भिक्ष बड़ा भयानक था। लोग बड़े दुःखी हुए। लाचार होकर इस नंगे, कंगाल फकीर के पास मदद माँगने आए। उसके दिल में कुछ खयाल हुआ। उनकी मदद करने को वह तैयार हो गया। पहले वह ओसाको नामक शहर के बड़े बड़े धनाढ्य और भद्र पुरुषों के पास गया और उनसे मदद माँगी। इन भलेमानसो ने वादा तो किया, पर उसे पूरा न किया। ओशियो फिर उनके पास कभी न गया। उसने बादशाह के वजीरों को पत्र लिखे कि इन किसानों को मदद देनी चाहिए। परंतु बहुत दिन गुजर जाने पर भी जवाब न आया। ओशियो ने अपने कपड़े और किताबें नीलाम कर दीं। जो कुछ मिला, मुट्ठी भर-कर उन आदमियों की तरफ फेंक दिया। भला इससे क्या हो सकता था? परंतु ओशियो का दिल इससे पूर्ण शिव रूप हो गया। यहाँ इतना जिक्र कर देना काफी होगा कि जापान के लोग अपने बादशाह को पिता की तरह पूजते हैं। उनके हृदय की यह एक वासना है। ऐसी कौम के हजारों आदमी इस वीर के पास जमा हैं। ओशियो ने कहा—"सब लोग हाथ में बाँस लेकर तैयार हो जाओ और बगावत का झंडा खड़ा कर दो।" कोई भी चूँ वा चरा न कर सका। बगावत का

झंडा खड़ा हो गया। ओशियो एक बाँस पकड़कर सबके आगे किओटो जाकर बादशाह के किले पर हमला करने के लिये चला। इस फकीर जनरल की फौज की चाल कौन रोक सकता था? जब शाही किले के सरदार ने देखा तब उसने रिपोर्ट की और आज्ञा मांगी कि ओशियो और उसकी बागी फौज पर बंदूकों की बाढ़ छोड़ी जाय? हुक्म हुआ कि "नहीं, ओशियो तो कुदरत के सब्ज वर्कों को पढ़नेवाला है। वह किसी खास बात के लिये चढ़ाई करने आया होगा। उसको हमला करने दो और आने दो।" जब ओशियो किले में दाखिल हुआ तब वह सरदार इस मस्त जनरल को पकड़कर बादशाह के पास ले गया। उस वक्त ओशियो ने कहा—वे राजभांडार, जो अनाज से भरे हुए हैं, गरीबों की मदद के लिये क्यों नहीं खोल दिए जाते?

जापान के राजा को डर सा लगा। एक वीर उसके सामने खड़ा था, जिसकी आवाज में दैवी शक्ति थी। हुक्म हुआ कि शाही भंडार खोल दिए जायँ और सारा अन्न दरिद्र किसानों को बाँटा जाय। सब सेना और पुलिस धरी की धरी रह गई। मंत्रियों के दफ्तर लगे के लगे रहे। ओशियो ने जिस काम पर कमर बाँधी उसको कर दिखाया। लोगों की विपत्ति कुछ दिनों के लिये दूर हो गई। ओशियो के हृदय की सफाई, सचाई और दृढ़ता के सामने भला कौन ठहर सकता था? सत्य की सदा जीत होती है। यह भी

वीरता का एक चिह्न है। रूस के जार ने सब लोगों को फाँसी दे दी। किंतु टाल्सटाय को वह दिल से प्रणाम करता था उनकी बातों का आदर करता था। जय वहीं होती है जहाँ कि पवित्रता और प्रेम है। दुनिया किसी कूड़े के ढेर पर नहीं खड़ी है कि जिस मुर्ग ने बाँग दी वही सिद्ध हो गया। दुनिया धर्म और अटल आध्यात्मिक नियमों पर खड़ी है। जो अपने आपको उन नियमों के साथ अभिन्नता करके खड़ा हुआ वह विजयी हो गया। आजकल लोग कहते हैं कि काम करो, काम करो। पर हमें तो ये बातें निरर्थक मालूम होती हैं। पहले काम करने का बल पैदा करो—अपने अंदर ही अंदर वृक्ष की तरह बढ़ो। आजकल भारतवर्ष में परोपकार करने का बुखार फैल रहा है। जिसको १०५ डिग्री का यह बुखार चढ़ा वह आजकल के भारतवर्ष का ऋषि हो गया। आजकल भरतवर्ष में अखबारों की टकसाल में गढ़े हुए वीर दर्जनों मिलते हैं। जहाँ किसी ने एक-दो काम किए और आगे बढ़कर छाती दिखाई तहाँ हिंदुस्तान के सारे अखबारों ने "हीरो" और "महात्मा" की पुकार मचाई। बस एक नया वीर तैयार हो गया। ये तो पागलपन की लहरें हैं। अखबार लिखनेवाले मामूली सिक्के के मनुष्य होते हैं। उनकी स्तुति और निंदा पर क्यों मरे जाते हो? अपने जीवन को अखबारों के छोटे छोटे पैराग्राफों के ऊपर क्यों लटका रहे हो? क्या यह सच नहीं कि हमारे आजकल के वीरों की जानें अखबारों

के लेखों में है ? जहाँ इन्होंने रंग बदला कि हमारे वीरों के रंग बदले, ओंठ सूखे और वीरता की आशाएँ टूट गईं ।

प्यारे, अंदर के केंद्र की ओर अपनी चाल उलटो और इस दिखावटी और बनावटी जीवन की चंचलता में अपने आपको न खो दो । वीर नही तो वीरो के अनुगामी हो और वीरता के काम नही तो धीरे धीरे अपने अंदर वीरता के परमाणुओ को जमा करो ।

जब हम कभी वीरो का हाल सुनते है तब हमारे अंदर भी वीरता की लहरें उठती हैं और वीरता का रग चढ़ आता है। परतु वह चिरस्थायी नही होता । इसका कारण सिर्फ यही है कि हमारे भीतर वीरता का मसाला तो होता नही। हम सिर्फ खाली महल उसके दिखलाने के लिये बनाना चाहते है । टीन के बरतन का स्वभाव छोड़कर अपने जीवन के केंद्र मे निवास करो और सचाई की चट्टान पर दृढ़ता से खड़े हो जाओ। अपनी जिंदगी किसी और के हवाले करो ताकि जिदगी के बनाने की कोशिशो में कुछ भी वक्त जाया न हो। इसलिये बाहर की सतह को छोड़कर जीवन के अंदर की तहो मे घुस जाओ; तब नए रंग खुलेंगे। द्वेष और भेददृष्टि छोड़ो, रोना छूट जायगा। प्रेम और आनंद से काम लो; शांति की वर्षा होने लगेगी और दुखड़े दूर हो जायेंगे। जीवन के तत्त्व का अनुभव करके चुप हो

जाओ; धीर और गंभीर हो जाओगे। वीरों की, फकीरों की, पीरों की यह कूक है—हटो पीछे, अपने अंदर जाओ, अपने आपको देखो, दुनिया और की और हो जायगी। अपनी आत्मिक उन्नति करो।